ईशावास्योपनिषद्



डॉ. उर्मिला श्रीवास्तव

ईशावास्योपनिषद्
Īśāvāsyopaniṣad

ईशावास्योपनिषद्
Īśāvāsyopaniṣad

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

साहित्य भण्डार
50, चाहचन्द, इलाहाबाद-211003

I S B N : 81-7779-015-3



प्रकाशक

साहित्य भण्डार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-211003



लेखिका

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

आर्य कन्या डिग्री कॉलेज,

इलाहाबाद



संस्करण

प्रथम 2001

द्वितीय (संशोधित) 2010



अक्षर संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2



मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, हिवेट रोड, इलाहाबाद

मूल्य : 70 रुपये मात्र

(पेपरबैक)

ओ३म्

नमोवाक्

ईशावास्योपनिषद् ज्ञान का दर्पण बन कर कर्म को प्रतिबिम्बित करता है। ज्ञान और कर्म की यह तादात्म्यता शक्ति का अजस्र स्रोत बन अध्यात्म की भावधारा को प्रवाहित करती है। सामाजिक आचार संहिता की नींव पर ज्ञान और कर्म की प्रतिष्ठा अध्यात्म की छाँव तले कल्याणमयता का सुखद संसार रचती है। ज्ञान की परिपूर्णता और सत्य के साक्षात्कार के माध्यम से जीवन के चरम तत्त्व की अधिकृति ईशावास्य के ऋषि का अभिप्रेत है। इस अभिप्रेत की सिद्धि में ब्रह्म की कलाएँ सत्यं, शिवं, सुन्दरं की साकार प्रतिमा बन कर अन्तस् को अमृत से आप्यायित कर देती हैं, आनन्द से आह्लादित कर देती हैं। दुर्बोध, गूढ़, नीरस आध्यात्मिक विषय ज्ञान की गाम्भीरता से एक क्षण में गङ्गा का शीतल प्रवाह बन जाता है, माधुर्य और लालित्य से आलोकित अभिप्राय दूसरे क्षण में हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर सा सहज अवभासित हो जाता है। ज्ञान और विज्ञान, विद्या और अविद्या, भौतिकता और आध्यात्मिकता के मणिकञ्चन संयोग से समन्वित मन्त्र अमृतत्व की उपलब्धि का अद्भुत सूत्र हाथों में थमा जाते हैं। भोक्ता द्रष्टा बन कर नानात्व में एकत्व की प्रतीति से, द्वैत में अद्वैत की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति–**अहं ब्रह्मास्मि** हो जाता है। ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र केवल शब्दजाल नहीं रह जाते हैं प्रत्युत् कर्ण कुहरों को पवित्रतम ध्वनियों से गुञ्जित कर देने वाले अनहद नाद बन जाते हैं, श्रुतिपथों को शुभतम विचारों से आप्यायित कर देने वाले मङ्गल स्वर बन जाते हैं।

ईशावास्योपनिषद् के मन्त्रपरिचय का संस्कार विगत अनेक वर्षों से संसार व्यस्त मन पर अध्ययन की दस्तक दे रहा था। अवकाश पाते ही अध्यवसाय को आगे कर मस्तिष्क मन्त्रव्याख्यान में व्यस्त होने को आकुल हो उठा, रात्रि जागरण भी परिश्रम के लिए अयाचित सा उपस्थित हो गया। अर्थों के माध्यम से विचारों की परिपक्वता अपरिपक्व बुद्धि में भासी तो किन्तु समस्या बन कर, समाधान तो मानों आकाशपुष्प थे। उलझन तो तब होती जब गुत्थियों को

सुलझाने को कोशिश करते-करते वे और उलझ जातीं। कल्याणी वाणी के गहन-गम्भीर अर्थों में उतर कर पार जाने का प्रयास करते-करते किनारा दूर खिसकता जाता। अज्ञान के आधिक्य से एक-एक मन्त्रपद मेरे अल्पज्ञान की थाह लेने लगता।

क्रिया के गर्भ में प्रतिक्रिया निहित रहती ही है, घोर अन्धकार में विद्युत् की प्राञ्जल रेखा ही आशा बन जाती है। मध्याह्न में उपनिषद् मर्मज्ञ, सम्मान्य पं० मूलचन्द अवस्थी, प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद के सान्निध्य में असाध्य रहस्यों को लेकर बैठती; उनकी रुचिर व्याख्याओं में कठिनतम प्रश्न अपने सरलतम उत्तर मानो स्वयं खोज लेते, लेखनी पुनः शब्दों की शक्ति का प्रवाह पा कर लेखन में प्रवृत्त होती। काल के उस विशिष्ट खण्ड में मुझे उपनिषद्—उप + नि + √सद् + क्विप्—शब्द के विग्रह और व्याख्याएँ सार्थक प्रतीत होते। वास्तव में ब्रह्मवेत्ता गुरु के चरणों में बैठ कर अज्ञान की निरन्तर निवृत्ति के द्वारा ज्ञान की अधिगम्यता ने कम से कम शास्त्रीय रूप में तो मुझे अग्राह्य को ग्राह्य करवा ही दिया। अज्ञ मैं ऋषियों के स्वानुभूति आधृत तत्त्वचिन्तन का अध्ययन-मनन कर सकी, आन्तरिक पावनता से पूरित पीयूष की किञ्चित् बूदों का पान कर सकी।

एक अन्तिम बात, साहित्यरसप्रवर पाठक ईशावास्योपनिषद् के शब्दविन्यास और अर्थव्यञ्जना के आस्वादन में प्रस्तुत कृति के परिशीलन की आवश्यकता अनुभव करें, कटुक औषध भी सित शर्करा बन कर परमात्मतत्त्व विषयक जिज्ञासाओं के निदान प्रस्तुत करे, ब्राह्मी सृष्टि का यह छोटा सा आख्यातक प्रतिरूप पूर्ण में पूर्ण की आहुति से पूर्ण को प्रतिष्ठित कर पूर्ण करे तो मेरा श्रम सफल होगा और प्रयास सार्थक।

—डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

पुरोवाक्

[द्वितीय संस्करण]

सुदूर प्राचीनकाल में लिपि के अभाव में समग्र ज्ञान कण्ठस्थीकरण की प्रक्रिया से गुरु की बुद्धि में समाहित हो जाता था। लिपि के आविष्कार के पश्चात् ताड़पत्रों पर हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रचलन हुआ, परिश्रमसाध्य और मूल्यवान् होने से वे भी सामान्य जनों के लिए दुर्लभ थे। अत: गुरु के चरणों में बैठ, उनसे प्रवचन सुनना ही पराविद्या की प्राप्ति का, ब्रह्म के साक्षात् बोध का एकमात्र उपाय हुआ। मुमुक्षा की सिद्धि के लिए साधक श्रद्धापूर्वक समित्पाणि होकर (यज्ञ की समिधाएँ हाथ में लेकर) गुरु के समीप जाए-और ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु उस प्रशान्तचित शिष्य को ब्रह्मविद्या के रहस्य का उपदेश करे, इसी में उप + नि + सद् + क्विप् पद की सार्थकता है। गुरुकृपा से ब्रह्मविद्या के विज्ञान का क्षुरस्य धारा निशित दुर्गम पथ सुगम बन जाता है। उपनिषदों के तत्त्व का ज्ञान अपनी बुद्धि से सहज गम्य है, काल के किसी भी खण्ड में जिज्ञासुवेत्ता का यह अहंकार व्यर्थ है।

चरितार्थता में उपनिषद के ज्ञान की सफलता है, ईशावास्योपनिषद् इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। उस की दृष्टि-एकांगी नहीं, जगत् में प्रतीयमान विरोधाभासों—व्यवहार और परमार्थ, सत्य और असत्य, ज्ञान और कर्म, त्याग और भोग, ईश्वर और जगत्, विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति, बहुत्व और एकत्व, जीवन और मृत्यु—इनको परस्परावलम्बी मान कर इनमें समन्वय की चेष्टा की गई है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि योगक्षेम का विरोधी नहीं किन्तु उसे वह जीवन का सच्चा सुख या अन्तिम सत्य मानने को प्रस्तुत नहीं। उसकी प्रभु से प्रार्थना है, हम-आप-सब आध्यात्मिकता में प्रवेश कर अमृतत्व के अधिकारी बनें।

ईशावास्य के प्रथम संस्करण की रचना में मेरे प्रेरणा पुरुष थे— तत्त्वज्ञानवेत्ता पं० मूलचन्द अवस्थी, मेरे नैरोबी प्रवास काल [२००२-२००४] में वे दिवंगत हुए। अग्निदेव उन्हें देवमार्ग पर प्रवृत्त कर सत्–चित्–आनन्द में प्रतिष्ठित करें। ईशावास्योपनिषद् की द्वितीय परिक्रमा में स्वर्गीय

पं० विष्णुकान्त शास्त्री (राज्यपाल, उत्तरप्रदेश) की पुस्तक 'ज्ञान और कर्म' मेरा सम्बल बनी। ईश्वर उन्हें पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त करें।

मेरे पति डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव, रीडर-संस्कृत विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद ने पाण्डुलिपिशोधन का दायित्व निर्वाह किया। माँ सरस्वती उन्हें अध्ययन की प्रेरणा से सम्पृक्त करें। अद्वय तत्त्व में रुचि रखने वाले पाठकों ने प्रथम संस्करण का स्वागत किया था, इसका प्रमाण है—प्रकाशन के लिए प्रस्तुत यह द्वितीय संस्करण। उन्हीं अध्येताओं के अनुरोध और साहित्य भंडार के स्वत्वाधिकारी श्री सतीश अग्रवाल के दुर्निवार आग्रह से यह द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हुआ। इस का परिमार्जित और परिशोधित स्वरूप आपको हृदयङ्गम हुआ तो मुझे भी ब्रह्मानन्दसहोदर रस की अनुभूति होगी, विश्वास है।

—उर्मिला श्रीवास्तव

अनुक्रम



एक परिचय

प्रदीप : सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता॥

ऋषियों द्वारा अन्वेषित अध्यात्मदर्शन अन्य समग्र विद्याओं के चिन्तन-मनन से उत्पन्न भ्रमरूप अन्धकार के विनाश के लिए दीपसदृश है, समस्त कर्मों के अनुष्ठान का एक मात्र साधन है तथा सम्पूर्ण धर्मों अर्थात् कर्त्तव्यों का आधार है।

जगत् त्रिविध तापों से परिपूर्ण है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन तापों से सन्तप्त-सन्त्रस्त जगत् को, इनसे सर्वथा मुक्ति प्रदान हेतु मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन से प्राप्त प्रज्ञासत्य के तार्किक विवेचन से जिस तत्त्व का अन्वेषण किया, भारतीय परम्परा उसे अध्यात्म के नाम से सम्बोधित करती है।

वस्तुतः भारतीय अध्यात्म चिन्तनधारा का मूलस्रोत वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है। महर्षि मनु ने इसीलिए वेद को **सर्वज्ञानमयो हि सः** कहा है। परमात्मा द्वारा प्रदत्त इस साहित्य का 'वेद' नाम ज्ञान की पवित्रता का सूचक है। इस अर्थ में वेद से तात्पर्य किसी देश-कालविशेष में रचित अथवा सङ्कलित ग्रन्थ समूह नहीं, किसी धर्मविशेष या जातिविशेष से सम्बद्ध साहित्य समूह भी नहीं, मानवमात्र के शुभत्व सम्पादन के निमित्त प्रवर्तित विचारधाराएँ हैं जो सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है, जो कई शताब्दियों में पूर्णता पाकर, अक्षुण्णता से आज तक प्राणिवर्ग के कल्याण की दृष्टि से प्रवहमान हैं। भारतीय संस्कृति की आधारशिला रूप वैदिक वाङ्मय आदर्शों की निधि बन कर सामाजिक सभ्यता के उन्नयन के माध्यम से व्यष्टि तथा समष्टि दोनों के हितसम्पादन में निरन्तर रत है।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत क्रमागत चार वर्गों की साहित्यिक रचनाएँ आती हैं, प्रत्येक वर्ग में भी कई एकल रचनाएँ हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. **संहिता**–ऋचाओं, स्तुतियों, प्रार्थनाओं एवं यज्ञमन्त्रों के सङ्कलन रूप साहित्य की यह अन्वर्थक संज्ञा है।

२. **ब्राह्मण**– दीर्घकाय इस साहित्य के अन्तर्गत मन्त्रों के अनुमानित अर्थ, उनके विनियोग, उत्पत्ति सम्बन्धी कथाएँ, कथाओं का यज्ञादि कृत्यों के साथ सम्बन्ध तथा कृत्यों के गुह्य अर्थ आदि समाहित हैं।

३. **आरण्यक**– समाज की उन्नति के प्रतिष्ठापक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाले ये ग्रन्थ अरण्य में एकाग्रचित होकर अनुष्ठान किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों की अध्यात्मपरक व्याख्या से समन्वित हैं।

४. **उपनिषद्**– उपनिषद् वेद के ज्ञान काण्ड के प्रतिनिधिभूत ग्रन्थ हैं। ज्ञान से अभिप्राय है–अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूप को जान कर अज्ञान से मुक्त होना। दर्शन की भाषा में इसे मुमुक्षा कहा गया है। इस दृष्टि से आचार्यों द्वारा शिष्यों को दिए गए दार्शनिक आख्यानों के संग्राहक उपनिषद् ग्रन्थ वैदिक ब्रह्मवाद तथा मुक्ति के निरूपक हैं। सच तो यह है कि उपनिषद ब्रह्मविद्याविषयक चिन्तन के अक्षय कोष हैं।

यह एक संयोगमात्र ही है कि भारतीय मनीषा ने मानव जीवन से सम्बद्ध सोपानों को चार की संख्या से विभाजित किया है। उन अपूर्व मेधा सम्पन्न तत्त्वज्ञों ने सम्पूर्ण समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में चतुर्धा विभक्त किया, मानव जीवन को भी चार आश्रमों–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में समायोजित किया। सम्पूर्ण आयु में अनुष्ठेय कर्मण्यता के चार लक्ष्यरूप पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष निर्धारित किये। मुक्ति की कामना से मनुष्य चतुर्धा विभक्त वर्णव्यवस्था के अनुसार, चार आश्रमों में निर्धारित दिनचर्या का पालन करते हुए, वैदिक वाङ्मय के चार सोपानों के अध्ययन-मनन-चिन्तन द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहता है।

सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में अङ्गों सहित वेद का अध्ययन ब्राह्मण का निष्कारण धर्म प्रतिपादित किया गया है– **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।** ब्राह्मण ग्रन्थ इन संहिताओं की यज्ञपरक व्याख्या हैं। संहिताओं के मंत्रों का विनियोग ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित होने से इनका व्यवहारकाल गृहस्थाश्रम ही है। गृहस्थी के धर्म से मुक्त होकर मनुष्य वन की ओर अभिमुख होता है। आरण्यक शब्द के मूल में भी यही भावना है। अरण्य में रहकर मनुष्य जिन ग्रन्थों का अध्ययन करता है, वे आरण्यक कहे जाते हैं। वानप्रस्थ में प्रवेश करने के अनन्तर दीर्घकालीन और व्ययसाध्य यज्ञों को करने की सामर्थ्य उसमें नहीं रह जाती है। केवल इन्द्रियों के वशीकरण द्वारा मनुष्य सात्त्विक आचरण को चरितार्थ करता हुआ आत्मिक मुक्ति की

अभिलाषा पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। उपनिषद् इस उद्देश्य की सफलता के लिए सर्वाधिक उपयोगी ग्रन्थ हैं। उपनिषद् का पर्याय वेदान्त–**वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्** इसी अभिप्राय को सूचित करता है। वेदों के अन्त भाग के समान उपनिषद् भी जीवन के अन्तिम भाग से सम्बद्ध हैं। इस दृष्टि से केवल संन्यासी ही उपनिषद् का अधिकारी हो सकता है।

उपनिषद् के गुरु व गम्भीर रहस्यों को आत्मसात् करने के लिए जिस तत्त्वावगाहिनी दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह समग्र वैदिक साहित्य का अध्ययन, अवबोध व आचरण कर चुकने के बाद जीवन के अन्तिम भाग में ही मानव को प्राप्त होती है। विद्याध्ययन के लिए आश्रम में प्रविष्ट ब्रह्मचारी अथवा अर्थ और काम की उपासना में निरत गृहस्थ जनों के लिए उपनिषद् का गूढ़ ज्ञान सहज नहीं है। अङ्गों सहित वेदाध्ययन करने तथा यज्ञयागादि के अनुष्ठान के अनन्तर वानप्रस्थ जीवन में जब वेद के आध्यात्मिक अर्थों में प्रवेश होने लगता है तब शनैः शनैः उस दृष्टि का निर्माण होता है जो उपनिषद् के रहस्यों को खोल सके। परम रहस्यभूत आत्मतत्व का बोधन कराने के कारण इसका एक नाम 'रहस्य' है। संन्यासी के लिए चतुर्थाश्रम ही उपनिषद् यात्रा आरम्भ करने का उचित अवसर बनता है। आत्मज्ञान के अधिकारी का निरूपण करते हुए जिन योग्यताओं का निर्धारण किया गया है, उनसे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है– **विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थः** व्यक्ति में ही मुमुक्षत्व की क्षमता सम्पृक्त होती है और व्यक्ति वास्तविक संन्यास की सिद्धि कर लेता है।

उप तथा नि उपसर्ग से युक्त, क्विप् प्रत्ययान्त, √सद् धातु से उपनिषद् शब्द व्युत्पन्न है। **आचार्य शङ्कर** के अनुसार, √सद् धातु के तीन अर्थ हैं– विशरण (नाश), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (शैथिल्य)। अतः उपनिषद् शब्द का अर्थ हुआ, वह ज्ञान जिससे अविद्या का नाश होकर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति तथा जन्म, जरा, मरण आदि कष्टों का अन्त होता है। √सद् धातु से नि उपसर्ग लगाकर निषीदति के आधार पर जिज्ञासु शिष्य का ब्रह्मवेत्ता गुरु के चरणों में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु बैठना भी उपनिषद् शब्द से अभिप्रेत है। वेदों में पारमार्थिक तत्त्व गुह्य रहस्य रूप से सुरक्षित रहा है, उपनिषद् उस रहस्यमय गोपनीय ज्ञान का प्रकाशन करने वाले ग्रन्थ हैं जो सर्वजन संवेद्य नहीं, कुछ विद्वानों के ही समक्ष उद्घाटनीय है। आचार्यगण वनों में स्थित आश्रमों के शान्त वातावरण में योग्यतम एवं ज्ञानपिपासु शिष्य को ही अध्यात्म ज्ञान प्रदान करते थे। इस रूप में भी उपनिषद् शब्द गूढ़ ज्ञान से समन्वित साहित्य का सूचक है। पाश्चात्त्य दार्शनिक गुरुओं में भी ज्ञानदान की ऐसी ही

प्रथा विद्यमान थी। **प्लेटो** का कथन है, **'इस विश्व के स्रष्टा और पिता का परिचय जानना एक टेढ़ी खीर है, यदि परिचय मिल भी जाए तो उसकी चर्चा जनसामान्य के मध्य नहीं की जा सकती है।'**

उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञान के मूल स्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धि के ही परिणाम नहीं है अपितु प्राचीन ऋषियों की अनुभूति के प्रमाण हैं। समग्र उपनिषद् निश्चित रूप से किसी एक ऋषि की रचना नहीं है तथापि वे अपौरुषेय भी नहीं है। अनेक ऋषियों को भिन्न-भिन्न कालों में, विविध परिस्थितियों में अन्तःकरण की गह्वरता में जिन आध्यात्मिक विचारों का स्फुरण हुआ; वे ही पृथक्-पृथक् उपनिषदों में सङ्कलित हैं– **ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।**

भारतीय तत्त्वचिन्तन की परम्परा का मूल स्रोत उपनिषद् साहित्य है। चिरप्रदीप्त वे ज्ञानदीपक सृष्टि के आदि से आत्मा को आलोकित करते रहे हैं और लय पर्यन्त पूर्ववत् आलोकित करते रहेंगे। इनके आलोक में वह अमरत्व है जिसने सनातन धर्म के मूल का सृजन किया है। जगत्कल्याणकारी भारत की इस निधि के समक्ष विश्व का प्रत्येक स्वाभिमानी राष्ट्र श्रद्धा से नतमस्तक रहा है। उत्कृष्टतम ज्ञान के प्रकाशक उपनिषद् ग्रन्थों में सन्निहित-अनुपम मेधा की अजस्र धारा ने ही प्राचीन भारत को 'विश्वगुरु' पद पर प्रतिष्ठित किया था। अपौरुषेय वेद के ज्ञानकाण्ड रूप उपनिषद् अविद्या का अक्षय स्रोत तथा विद्या के अक्षुण्ण भण्डार हैं। दर्शन और जीवन की जो रूपरेखा उपनिषदों में समन्वित हुई है, वह भारतीय समाज में सदा आदर्श मानी गई है। भारत देश के दर्शन एवं धर्म के बौद्धिक आधार उपनिषद् ही रहे हैं। उपनिषदों के रचयिता ऋषियों ने ज्ञान की पिपासा से, निष्काम अन्वेषण करते हुए, तपःपूत हृदय से, सत्य का दर्शन कर, भारतीय जीवन को सत् की ओर प्रवृत्त किया है।

औपनिषदिक चिन्तन की विशेषता है कि ऋषियों ने यहाँ जीवन के केवल एकाङ्गी पक्ष पर ही विचार नहीं किया अपितु अधिभूत, अधिदेव तथा अध्यात्म तीनों के पूर्णतः संश्लिष्ट, क्रमिक उत्थान को अभिव्यक्त किया है। मानव के अन्तर में विद्यमान आत्मतत्त्व एक ज्योतिरूप है। उस ज्योति को प्रदीप्त कर उसकी अनुभूति करना तथा जीवन में उसे मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार करना जीवन की सफलता है। इस ज्योति का प्रकाश आन्तरिक शक्तियों को सत्त्व की पावनता से ओत-प्रोत कर जीवन को गौरवमय करता है। शुभकार्यों में दीप प्रज्वालन, यज्ञों में अग्नि प्रज्वालन इस जागरण के प्रतीक है। यथा सूर्य का प्रकाश मानव के लिए ऊर्जा का स्रोत है, तथा सूर्य की

रश्मियाँ मानव के स्वास्थ्य के लिए वरस्वरूप हैं, उसी प्रकार आत्मरूप ज्योति उद्बुद्ध होकर हृदय के अज्ञान और मनस् के तमोविकारों की नाशिका है। उपनिषद् निर्दिष्ट आत्मसंरक्षण की यह प्रक्रिया मानव जीवन को अन्तः स्फूर्ति की प्रेरणा से निश्चित स्थायित्व प्रदान करती है। आत्मानुभूति की इस प्रक्रिया के प्रति मानव मन का समर्पण, आत्मज्योति का उद्दीपन, अनासक्त जीवन को परमात्मा के सामीप्य की विलक्षण, अपूर्व आनन्दानुभूति से पूरित कर देता है।

उपनिषदों के स्वरूप के सम्यक् अवबोधन के लिए उनके प्रणयन की भौगोलिक सीमाओं का ज्ञान अनिवार्य है। इस प्राचीनतम साहित्य के विषय में केवल अनुमान के आधार पर कुछ निर्धारित करना अनुचित कार्य है। उपनिषदों में वर्णित मोक्षभूमिरूप भारत खण्ड की भौगोलिक स्थिति चिन्तन का आधार बन सकती है। प्रमुख उपनिषदों में उल्लिखित राज्यों या जनपदों के नाम, जिनमें से अधिकांश जातियों के नाम पर निश्चित हो गए थे, यथा- कुरु, पाञ्चाल, विदेह, काशी, कोसल, गान्धार, केकय, मद्र, मत्स्य, विदर्भ आदि। इतिहास अध्येताओं के अनुसार इन राज्यों का विस्तार उत्तर में हिमालय से, दक्षिण में विन्ध्य तक था, अतः सम्भवतः उपनिषदों की रचना का विस्तार मध्यदेश में कुरुपाञ्चाल से आरम्भ हो कर पूर्व में विदेह तक तथा पश्चिमोत्तर में सिन्धु तटवर्ती गान्धार तक भौगोलिक क्षेत्र में विस्तृत था।

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार श्रुति का अन्तिम अङ्गरूप उपनिषद् साहित्य देश-कालातीत है क्योंकि इनमें निहित तत्त्व शाश्वत काल और विस्तृत भूगोल से परे भी सत्य है तथापि उपनिषदों का कालनिर्धारण करना तथा उस विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ स्थापित कर पाना अतीव दुष्कर कार्य है। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में विद्वानों ने उपनिषदों के कालक्रम निर्धारण को शोध के विषय के रूप में स्वीकार कर कुछ मान्यताएँ निश्चित की है। स्पष्ट ही सभी उपनिषदों का रचनाकाल एक नहीं है क्योंकि उनमें प्रतिपादित विचारों के विकास की अवस्थाएँ भिन्न हैं। इसी प्रकार उनमें भाषा और शैलीगत भिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती ही हैं परन्तु उन असमानताओं के होने पर भी सामान्य रूप से ईसापूर्व बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ कर ईसापूर्व छठी शताब्दी तक का समय उपनिषद् काल माना जा सकता है। इन दो सीमाओं के अन्तर्गत ही विविध आधारों पर प्राचीन एवं प्रमुख उपनिषदों के काल निर्णय का प्रयास किया जाता है। भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं में औपनिषदिक दर्शन का प्रभाव भी इसी कालक्रम के विधान को बल देता है।

सत्य है कि उपनिषद् मानव ज्ञान का सर्वोत्तम रत्न हैं किन्तु उनमें प्रतिपादित सत्यों की पुष्टि देश-काल की सीमा के बन्धनों के पार

सार्वभौमिकता तथा सार्वकालिकता में स्पष्ट उपलंब्ध है। उपनिषदों के व्यावहारिक ज्ञान ने कल्पना के परे जाकर विश्व के चिन्तनशील महान् मस्तिष्कों को सदा प्रभावित और प्रेरित किया ही है। प्राचीनतम उपनिषदों के विचारक ऋषि-मनीषी-चिन्तक निश्चित रूप से बुद्ध के पूर्ववर्ती थे जिन्होंने बुद्ध पुरुष के बुद्धत्व जागरण में योगदान दिया ही था। निरन्तर प्रवहमान उपनिषद् की मानसी गङ्गा ने शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, महर्षि दयानन्द, महर्षि अरविन्द आदि भारतीय मेधाओं को निरन्तर समृद्ध किया है। विश्व के उत्कृष्टतम साहित्य के अतिमानवीय विचारों ने केवल भारतीय विद्वानों को ही नहीं, पाश्चात्य विशेषज्ञों को भी सदा आकृष्ट किया है। इन विभूतियों में दाराशिकोह, फ्रेंच, विद्वान् एन्क्वैटिल ड्यूपैरो, जर्मन दार्शनिक आर्थर शॉपन हाअर, मैक्समूलर, एफ० मिशेल, प्रो० बोहट लिंक तथा पॉल ड्यूसन आदि उपनिषद् प्रेम के लिए प्रसिद्ध हुए। इन विद्वानों के द्वारा अनुदित संस्करण विश्वव्यापक हुए और उपनिषदों के प्रकाश से भारत का अध्यात्म सर्वत्र प्रकाशित हो गया।

आत्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति, निर्विवादतः वेदमूलक है किन्तु इन मानवीय रचनाओं के विभिन्नकालिक तथ्यों में प्रक्षेपवशात् यदि कुछ वेदविरुद्ध है तो मीमांसाकार जैमिनिमुनि के **विरोधे त्वनपेक्ष्यमिति** वचन के अनुसार श्रुति के प्रामाण्य के अभाव में वह मान्य नहीं होता है। अतः उपनिषदों के वास्तविक अर्थों को उनके शब्दों में ही समझा जा सकता है, उन पर आरोपित करके नहीं। इस बुद्धि से उपनिषदों का अध्ययन हमें भौतिकता और अध्यात्मिकता के उस वैभव का स्वामित्व प्रदान करेगा जो कभी वैदिक काल में हमारे पूर्वजों की सम्पत्ति था।

उपनिषद् साहित्य अत्यन्त व्यापक है किन्तु लगभग दो सौ की संख्या तक विस्तृत साहित्य में दस उपनिषद् अत्यन्त प्रामाणिक और प्रमुख हैं—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं च बृहदारण्यकस्तथा॥

—मुक्तिकोपनिषद् 1.30

ईशावास्योपनिषद्

मुक्तिकोपनिषद् के इस क्रम में ईशावास्योपनिषद् या ईशोपनिषद् ही प्रमुख और अग्रगण्य है। जीव, जगत् तथा ब्रह्म के स्वरूप और सम्बन्ध की प्रथम, महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक विवेचना प्रस्तुत करने के कारण भारतीय

परम्परा में मान्य उपनिषद् गणना के सामान्य क्रम में इसे प्रथम स्थान प्राप्त है। विषय की सम्पूर्णता और विचारों की गहनता की दृष्टि से यह एक सर्वथा स्वतन्त्र उपनिषद् ग्रन्थ है। ईशावास्योपनिषद् शुक्लजयर्वेद की काण्वसंहिता और माध्यन्दिन वाजसेनयिसंहिता के अन्तिम चालीसवें अध्याय के रूप में कुछ पाठभेद से उपलब्ध है, अतः स्पष्ट रूप से यह वेदान्त है।

वर्तमान साहित्य में शुक्लयजुर्वेदीय काण्वसंहिता का चालीसवाँ अध्याय ही ईशावास्योपनिषद् के नाम से विद्वन्मण्डली के अध्ययन, भाष्य, शोध एवं टीकाओं का विषय रहा है। ईशावास्योपनिषद् के लघु कलेवर में कुल 18 मंत्र हैं। संहिता के अन्तर्गत मन्त्ररूप में उपलब्ध यह उपनिषद् ही एक मात्र मन्त्रोपनिषद् पद से प्रसिद्ध है। **प्रयोगकालीनार्थ स्मारकत्वं मन्त्रत्वम्** अर्थात् जो कर्मकाण्ड करते समय द्रव्य और देवता का स्मरण कराए, वह मन्त्र है। मन्त्र की इस परिभाषा के अनुसार ईश्वर की सर्वव्यापकता का उद्घोष तथा भौतिक जगत् की अनित्यता का दोषदर्शन कराने वाली त्रुटियों के कारण ईशोपनिषद् नाम सार्थक है। छन्दोबद्ध संहिता का अंश होने के कारण यह संहितोपनिषद् नाम से भी सम्बोध्य है। वाजसनेयिसंहिता के चालीसवें अध्याय के 17 मंत्रों में सीमित इस अल्पाकार उपनिषद् के नाम वाजसनेयोपनिषद् तथा वाजसनेयिसंहितोपनिषद् भी सर्वथा उचित ही हैं। यजुर्वेद की सर्वानुक्रमणी 36 में चालीसवें अध्याय के द्रष्टा ऋषि दध्यङाथर्वण कहे गए हैं अतः वे ही उपनिषद् के प्रणेता ऋषि सिद्ध होते हैं। शतपथ ब्राह्मण 14.1.1.20 में भी दध्यङ् आथर्वण को ही इन मन्त्रों का प्रस्तोता कहा गया है– **दध्यङ् ह वा आथर्वणः एतं शुक्रमेतं यज्ञविदां चकार।**

सूक्त अथवा मन्त्र में प्रतिपाद्य देवता के आधार पर सूक्त अथवा मन्त्र का देवता निर्णीत होता है। सम्पूर्ण सूक्त में एक ही देवता की भावना होने पर देवतानिर्णय में कठिनता नहीं हाती है किन्तु एक ही सूक्त में अनेक देवताओं की स्तुति देवता के निर्धारण में बाधा देती है। ईशावास्योपनिषद् में भी ईश, आत्मन्, ओ३म्, अग्नि, सत्य, ब्रह्म, पुरुष, यम और प्रजापति आदि अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, ये सभी शब्द एक ही आत्मा के गुणबोधक पर्याय हैं अतः सम्पूर्ण उपनिषद् अध्याय का प्रतिपाद्य देवता आत्मा निर्विवाद निर्धारित है। ऋग्वेद १.१६४.४६ ऋग्वेद का भी मत है–**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।**

आत्मा के अनादि-अनन्त स्वरूप की विवेचना करने के कारण इसे आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मसूक्त, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त आदि पदों से अभिहित किया जाता है।

उपनिषदों के अध्येता सातवलेकर का कथन है कि जो ज्ञान अन्य

उपनिषदों में है, वह इसमें है किन्तु जितना समुचित उपदेश इसमें है उतना अन्य उपनिषदों में भी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण केनोपनिषद् ईशावास्योपनिषद् के मन्त्रांश ४-नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वम् की व्याख्या है। बृहदारण्यक सदृश विशालकाय उपनिषद् भी एक प्रकार से ईशोपनिषद् की टीका ही है। वर्ण्यविषय की दृष्टि से ईशावास्योपनिषद् को चार भागों में समायोजित किया जा सकता है–

प्रथम भाग में १-३ संख्यक मन्त्र, द्वितीय भाग में ४-८ संख्यक मन्त्र, तृतीय भाग में ९-१४ संख्यक मंत्र और चतुर्थ भाग में १५-१८ संख्यक मन्त्र हैं। अध्यात्मविषयक समग्र विशिष्ट तथ्य सूत्ररूप में प्रथम तीन मन्त्रों में व्याख्यायित हैं, शेष उपनिषद् में उन्हीं तथ्यों का विस्तार और विवेचन है।

ईशावास्योपनिषद् वैदिक ऋषि की ज्ञानयात्रा का अन्तिम विश्रामस्थल है, चिन्तन की चरम परिणति है। यजुर्वेद की दुर्गम उपत्यका से आत्मतत्त्व की मानसी गङ्गा को मानव कल्याण के निमित पृथिवी की समतल भूमि पर प्रवाहित करने का दायित्व निर्वाह किया है ईशावास्योपनिषद् ने। ज्ञान का उत्कृष्टतम रूप, आत्मिक उन्नति का सर्वोत्तम अध्याय-उच्चतम, पवित्रतम और एकाग्रतम भावना से अनुस्यूत होकर ईशावास्योपनिषद् के मंत्रों में विवेचित हुआ है। ईशावास्योपनिषद् की शिक्षा ने मात्र पुस्तकीय ज्ञान का विवेचन ही नहीं, जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी सबल रूप से विश्लेषित किया है–**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः** की मान्यता में विश्वास रखने वाले ईशावास्योपनिषद् के ऋषि की वाणी ऐहिक सुख के माध्यम से निःश्रेयस् के मार्ग में प्रवृत्त करती है। वस्तुतः ऐसा कोई ज्ञान जो केवल आध्यात्मिकता की चर्चा करता है, केवल सैद्धान्तिकता की बात करता है, व्यावहारिक जीवनयापन के उपायों पर प्रकाश नहीं डालता है, दैनन्दिन समस्याओं के समाधान के अभाव में किस प्रकार मानव के लिए उपयोगी हो सकता है? वर्तमान ही तो भविष्य के सुख का आधार दिखता है। साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान ही तो अभ्युदय को सिद्ध कर, जन्मान्तर के शुभत्व का स्थाई धरातल बनता है।

ईशावास्योपनिषद् का दर्शन संसार को तुच्छ और हेय समझ कर, गृहस्थ धर्म का परित्याग कर, हाथ में भिक्षापात्र लेकर, कषायवस्त्र धारण कर, जीवन व्यतीत करने की शिक्षा कदापि नहीं देता है अपितु सत्य और पूर्व स्थापित परम्पराओं का पालन करते हुए संसार को असार स्वीकार कर सन्तुलित जीवन जीने की जिजीविषा देता है। कौन इस सृष्टि का भोग करेगा? वह जो यावज्जीवन अपने निर्लिप्त कर्म के आचरण से संसार को सौन्दर्यमय और ऐश्वर्यमय बनाएगा। ऋषिगण स्वयं गृहस्थ होकर भी कर्म की विशिष्ट जीवन

प्रणाली द्वारा ज्ञान का अनुसरण, अनुभवन करने में सक्षम होते थे। पूर्वाचार्यों द्वारा निर्णीत, आचरित जीवन पद्धति का वर्तमान में आचरण, भोग और त्याग की अति से परे समन्वित दृष्टिकोण का, मध्यमार्ग का सन्देश देता है। इस सन्देश को जीवन में चरितार्थ कर लेने वाला विलक्षण पुरुष नि:सन्देह अविद्या के पथ पर चलता हुआ विद्या का अधिकारी हो जाता है।

ईशावास्योपनिषद् की शब्दावली में अविद्या है बन्धन और विद्या है मोक्ष। अविद्या में भेद, नानात्व और अहङ्कार छिद्र पा कर बन्धन बुद्धि की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं। वस्तु जगत् के बन्धन से अवसन्न जीवात्मा; इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अटूट तादात्म्य स्थापित कर लेता है। शरीर और आत्मा की भ्रमपूर्ण स्थिति, स्वार्थपूर्ण इच्छाओं और कामनायुक्त वासनाओं को जन्म देकर मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य को, आत्यन्तिक शान्ति को क्षरित करती रहती है। अहं की क्षुद्र भावना से ऊपर उठने वाला, अपने तात्त्विक ब्रह्मरूप का साक्षात् करने की आकुलता से भीतर की यात्रा प्रारम्भ करता है। अभ्यास और वैराग्य अन्तः प्रयाण के इस कठिन अभियान में सहयोग प्रदान कर सकारात्मक लाभ कराते हैं, जीवन के चिरन्तन लक्ष्य मोक्ष के अर्जन में सफलता दिलाते हैं—**सा विद्या या विमुक्तये।**

मोक्ष की स्थिति मात्र शरीर के नष्ट होने की, मरणोपरान्त की स्थिति नहीं है। मरण की दशा कष्टों से, अवसादों से सम्बन्ध समाप्त करा देने की दशा भी नहीं है। यह प्रस्तुति है उस विलक्षण उदाहरण की, जिससे प्रेरणा प्राप्त कर विदेह राजा जनक की भाँति राज्यकार्य में संलग्न रहते हुए ऋषिपद की प्राप्ति में काठिन्य अनुभव नहीं होता है। यह स्थापना है उन समस्याओं के समाधान की जिनके निराकरण से उसी जीवन में व्यावहारिक धरातल पर ही जीवन्मुक्ति की सिद्धि में सारल्य प्रतीत होता है।

सत्य है कि मानव जीवन अनुभूति की सीमाओं से दु:खों का आगार है जिन्हें केवल नकार कर, पलायनवादी प्रवृत्ति से जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता है किन्तु यह भी निर्विवाद है कि परमानन्द कोष परमेश्वर की सृष्टि में मात्र दु:ख का ही साम्राज्य नहीं, सुख का आच्छादन भी विद्यमान है; आवश्यकता है सप्रयास उसे खोजने की, उसे पाने का प्रयत्न करने की—**हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।** दु:ख की नकारात्मकता ही सर्वत्र व्याप्त हो तो कौन जीने की ललक मन में रखेगा? क्यों कोई ऋषि मानव जाति के निमित्त शतवर्षी या उससे भी अधिक दीर्घायु की कामना करेगा? आवश्यकता के अनुरूप भोग और भोगों के त्याग से उपवर्ग की सिद्धि—यही

इन प्रश्नों के उत्तर हैं। ऋषियों के ये विधेयात्मक आदेश ही परमात्मा में जीवात्मा के सुखद विलय के मूलमन्त्र हैं।

ईशावास्योपनिषद् का ऋषि ईश्वर प्रदत्त जीवन को वरदान मानता है, अत: उसके शब्दों से, विचारों से जीवन के प्रति उत्कट प्रेम, स्वस्थ आयुयापन के प्रति हार्दिक अभिलाषा अभिव्यक्त होती है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से क्षीण, प्रमादी, निष्क्रिय अत: असामान्य पुरुष ही आत्मघाती होते हैं। अज्ञान से आवृत वे जन परम दुर्लभ मानव जीवन को सौभाग्य न मानकर स्व की परिधि में केन्द्रित रहते हैं। चेतना की एकता का, साम्य का ज्ञान कर लेने वाला, संकीर्णता तथा घृणा से उत्पन्न पृथक्ता के भाव को समाप्त कर जीवन की सामान्य धारा से अलग दिखने लगता है। विश्वप्रेम सौहार्द और सह-अस्तित्व की लोकमङ्गलमयी अवधारणा के मूल में शान्ति की ऐसी ही प्रगाढ़ रेखा भास्वरमान है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

ईशावास्योपनिषद् में प्रतिपादित एकत्व की उदात्त भावना आधुनिक वैज्ञानिकों के चिन्तन-अनुसन्धान का भी विषय है। विज्ञान के श्रेष्ठतम विभाग–भौतिकी एवं जैविकी का मौलिक सिद्धान्त भी अभिन्नता के तथ्य पर अवलम्बित है। एक मूल तत्त्व ऊर्जा ब्रह्माण्डीय चक्र की उत्पत्ति-स्थिति-लय का एक मात्र कारण है। यह ऊर्जा ही भौतिकी के द्वारा पार्थिव व खगोलीय घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना करती है तथा जैविकी के माध्यम से जीव संरचनाओं तथा प्राकृतिक उपादानों के मध्य श्रृंखला बनाती है तदनुसार एक जीव संरचना दूसरी के साथ जैव सातत्यङ्क में बांधी है। सतही दृष्टि से देखने पर जहाँ भिन्नता भासती हो, गहरी वैज्ञानिक दृष्टि वहीं चेतना अथवा ऊर्जा के रूप में अभिन्नता की साक्षात् प्रतीति कराती है। ईशावास्योपनिषद् के ऋषि ने भी प्रकृति की एकता की योजना को चित्तवृत्ति के निरोध से योग की साधना करके अन्तर में ध्यान की समाधि अवस्था में पाया है। आत्मिक और शारीरिक व्यक्तित्व के विकास एवं सामाजिक कर्त्तव्यों और अधिकारों के अनुष्ठान के इस यथार्थतम विधान से मनुष्य ऊर्जा का अजस्र स्रोत बन सकता है–

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।

– मुण्डकोपनिषद् २.२.१

इसी सन्दर्भ में यहाँ सम्भूति-असम्भूति की चर्चा हुई है। सम्भूति और

असम्भूति का समन्वित सम्पादन मानव को अमृत का अधिकारी बनाता है। व्यक्तिगत सुख अल्पमात्रिक है, समष्टिगत सुख ही पारमार्थिक प्रभूत सुख है। संहत विचारों के माध्यम से संघीय शक्ति का सञ्चय कर समाज की सुरक्षा की व्यवस्था ईशावास्योपनिषद् के ऋषि का अभीष्ट है। इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए सत्य की साधना अनिवार्य है। सत्यस्वरूप के साक्षात् को जीवन का लक्ष्य बना लेने वाला सुवर्ण के मोह का परित्याग कर देता है। ऐसा पुरुष सूर्य की प्रखर ऊर्जा जैसी चेतनता का स्वयं में सम्प्रवेश अनुभव करता है। सोऽहं की भावना से अनुप्राणित वह परमात्मा की अनन्तता की, उत्कृष्टता की प्रतिच्छवि बन जाता है। प्रेयमार्ग उसे कण्टकाकीर्ण लगने लगता है, श्रेयमार्ग पर चलने की प्रबल कामना से वह ईश्वर के प्रति प्रार्थनाशील हो उठता है। प्रार्थना के अन्तरात्मा से निकले शब्द कुटिलता से दूर हटा कर सरलता में प्रविष्टि कराते हैं। जहाँ सरलता है, जहाँ सहजता है; वहीं शान्ति है, वहीं प्रसाद है।

अनुभूति जितनी गहरी होती है, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सरस और मार्मिक होती है। विचार जितने स्पष्ट होते हैं उनकी प्रस्तुति उतनी ही सरल होती है। ईशावास्योपनिषद् के ऋषियों की वाणी की मार्मिकता और सहजता अवान्तरकाल में मानों गीता के श्लोकों में परिनिष्ठित हो गई है। गूढ़ दार्शनिक विषय की विवेचना से विषय दुर्बोध होगा—इस कल्पना को असत्य सिद्ध करता हुआ लघुकाय ईशावास्योपनिषद् समग्र उपनिषद् साहित्य में विवेचित होकर, बीज से विशाल वृक्ष बनकर मानों सूत्र शैली का प्रतीक हो गया है। नीरस आध्यात्मिक विचारों तथा दर्शन शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की प्रस्तुति सरस व माधुर्य गुण से परिपूर्ण शैली में की गई है। भाषा सौष्ठव और सहज भावाभिव्यक्ति के कारण ऋषियों के आत्मनिष्ठ विचार सहजता से बुद्धिगम्य होकर आत्मनिष्ठ होने की प्रेरणा दे जाते हैं। सामान्यतः विरोधाभास अलङ्कार के माध्यम से प्रेयमार्ग की निकृष्टता तथा श्रेयमार्ग की उत्कृष्टता की स्थापना की गई है। गूढ़तम रहस्यों को आत्मसात् करने के श्रम से क्लान्त मन और श्रान्त मस्तिष्क भी काव्यसदृश सरसता का आस्वादन कर आनन्दविभोर हो जाते हैं। अध्यात्म के गहन तथ्य और जीवनदर्शन के रुचिर विश्लेषण में प्रयुक्त सटीक पद ऋषि की प्रतिभा और क्षमता को ध्वनित करते हैं।

ईशावास्योपनिषद् के मन्त्रों में ऋषि की वाणी की अनुगूँज है कि ईश्वर रचित सृष्टि का लघुतम कण भी कालसापेक्ष है, सर्वोत्कृष्ट कृति मानव के जीवन की अवधि भी निर्धारित है, विधि का विधान भी अपरिवर्तित है। अश्रान्त श्रम अथवा अक्लान्त कर्म ही इस विधान का अविकल समाधान है। जीवन पानी का बुलबुला है, क्षणिक व नश्वर प्रभात के तारे के समान वह

झट छिप जाएगा, यदि कुछ शेष रहा भी, तो वह है मात्र मनुष्य की कर्मण्य प्रवृत्ति। निष्काम कर्म सौन्दर्य से जीवन राग की लयात्मकता के स्वर सधते हैं, स्वरों की मुखरता मानव चेतना को सन्दीपित करती हुई शिवं-शान्तं-शाश्वतं के उद्‌घोष को निनादित करती है।

सम्यक् सम्बुद्ध मानवचेतना ही ऋषिचेतना में प्रतिफलित है। ऋषि की चैतन्यता के विशिष्ट क्षण में अनुभूत-अभिव्यक्त सत्य सृष्टि का यथार्थ बनता है। सत्य की स्थिति और ऋत की गति अन्त: प्रवृत्ति की प्रेरणा से अपरोक्ष की अनुभूति के साथ एकाकार होकर चिरप्रदीप्त ज्ञानदीप में रूपायित हो जाती है। यह ज्ञानाग्नि अन्तर की ज्वाला से प्रणव को उद्‌भासित करती हुई ब्रह्ममधु की दिव्य अमृताहुति पाकर पूर्ण और शून्य हो जाती है। कालचक्र के उस विलक्षण अमृतोपम अंश में खण्ड-खण्ड ब्रह्माण्ड भी अखण्डमण्डलाकार आभासित हो उठता है। ब्रह्ममधु के अन्वेष्टा की मेधा देशकाल की सीमा का अतिक्रमण कर, कार्य-कारण की शृंखला के बन्धन से विर्निमुक्त होकर, आवरण और विक्षेप के बन्धनों को तोड़ कर सत-चित्-आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाती है।

ईशावास्योपनिषद् सदृश उत्कृष्टतम साहित्य में सन्निहित अध्यात्म के प्रकाश से प्रकाशित, विस्मित बुद्धि से फ्रेंच विद्वान् **लुई जैकॉलियट** ने सन् १९२६ में La Bible daus India नामक पुस्तक में लिखा था– **'प्राचीन भारत भूमि! मानव मात्र का जन्मस्थान! पूजनीय और जयधात्री! जिसको शताब्दियों के नृशंस आक्रमण भी विस्मृति की धूल में नहीं दबा सके, तेरी जय हो। श्रद्धा, प्रेम, कविता और विज्ञान की पितृभूमि! तेरी जय हो। क्या कभी ऐसा दिन आएगा, जब हम अपने पाश्चात्त्य देशों के भविष्य में तेरे अतीत की उन्नति की झलक देखेंगे।'**



ईशावास्योपनिषद्

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अन्वयः—ॐ अदः पूर्णम्, इदं पूर्णं, पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते। पूर्णस्य पूर्णम् आदाय, पूर्णम् एव अवशिष्यते।

शब्दार्थ—ओ३म्—ब्रह्म का प्रतीक, माङ्गलिक पद। अदः—वह (कारणब्रह्म)। पूर्ण—पूरा है। इदं—यह (कार्यब्रह्म)। उदच्यते—उत्पन्न हुआ है। आदाय—लेकर। अवशिष्यते—बच रहता है।

अनुवाद—ओ३म्, वह परब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है, उसका अंशभूत यह जगत् भी पूर्ण है। उस पूर्ण परब्रह्म से यह पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। पूर्णब्रह्म की पूर्णता को ग्रहण कर लेने पर भी वह परब्रह्म एवं जगत् पूर्णरूप में ही बचा रहता है।

God, the Supreme power is perfect in all respects. His creation, i.e. the universe is also perfect. The complete universe is created by the perfect Brahman. The universe is derived from the perfect Brahman, so God and the universe remain perfect. (Like a teacher, who imparts his knowledge to his students; but it never decreases.)

संस्कृतभावार्थः—तद् श्रेष्ठं ब्रह्म सर्वतः पूर्णं वर्तते। ब्रह्मणा निर्मितम् इदं जगदपि पूर्णं विद्यते यतो हि इदं ब्रह्माण्डं तस्माद् ब्रह्मणः एव निर्गतम् अस्ति उत्पद्यते वा एवं तस्माद् पूर्णब्रह्मणः पूर्णत्वे गृहीतेऽपि पूर्णब्रह्म ब्रह्माण्डञ्च अवशिष्टं भवति।

व्याख्या—पूर्णमदः इत्यादि मन्त्र बृहदारण्यकोपनिषद् के पाँचवें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका का पूर्वार्द्ध है। यह मन्त्र ईशावास्योपनिषद्

के मङ्गलाचरण अथवा शान्तिपाठ के रूप में पठित है। शान्तिपाठ से क्षण-क्षण परिवर्तशील चित्तवृत्तियाँ चित्त को शम की स्थिति में लाकर एकाग्र कर देती हैं, तब कठिन उपनिषदों के भाव सरल और सुग्राह्य हो जाते हैं, अतः शान्तिपाठ समुचित है।

ईशावास्योपनिषद् का यह मन्त्र मानों विलक्षण महावाक्य है। इस मन्त्र में जगत् के कारणभूत ब्रह्म को निर्दिष्ट करके उसे सब प्रकार से पूर्ण कहा गया है। वह सच्चिदानन्द, परब्रह्म, परमपुरुष सदा-सर्वदा परितः पूर्ण है। यह दृश्यमान जगत् भी उस परब्रह्म का अंश होने से पूर्ण है क्योंकि यह उस पूर्णब्रह्म से ही आविर्भूत है। उस पूर्णब्रह्म की पूर्णता को निकाल लेने पर भी पूर्ण ब्रह्म पूर्णरूप में ही अवशिष्ट रहता है, उससे निर्गत ब्रह्माण्ड भी पूर्णरूप में ही अवस्थित रहता है। उस पूर्णब्रह्म में कहीं से किसी प्रकार की न्यूनता अथवा अपूर्णता नहीं आती है। दर्शन का सिद्धान्त है–कारण से कार्य होता है और कारण का गुण कार्य में अनुवर्तित होता है–**कारणात् कार्यभावः।**

विश्व के कण-कण में पूर्ण ब्रह्म की पूर्णता समाहित है, यह हमारा अज्ञान; हमारी प्रज्ञा का अपराध है कि हम स्वयं को, प्रकृति को, ब्रह्माण्ड को अपूर्ण माने बैठे हैं। सांसारिक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान के अभाव में दुःखी होते रहते हैं–**प्रज्ञापराध एव एष दुःखमिति यत्।** दर्शन की भाषा में इसे प्रतिभास कहते है–प्रतिकूल भास-वास्तविक रूप से उलटा बोध; यथा-मरुस्थल में जल नहीं है तदपि अज्ञानी पथिक या हरिण को वहाँ धूप में पानी का भान होता है। वह दौड़कर जाता है पानी पीने के लिए पर वहाँ तो पानी है ही नहीं, वह दौड़-दौड़ कर थक कर मर जाता है।

मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रतिकूल काम कर प्रज्ञापराधी होता है। आत्मा को जान कर भी तदनुकूल आचरण नहीं करता है। प्रातिभासिक (अयथार्थ) सत्ताओं के पीछे भाग-भाग कर जीवन समाप्त कर देता है। आत्मज्ञान होते ही प्रातिभासिक सत्ता स्वतः लुप्त हो जाती है, त्रिकालाबाधित पूर्ण सत्य नेत्रों के समक्ष उद्भासित हो उठता है।

ऋषि की उद्घोषणा है कि जिस पूर्ण सत्य को हम खोजने का प्रयास कर रहे हैं, वह हमारी खोज से उद्घाटित या स्थापित नहीं होता है। वह तो खोज से पूर्व ही पूर्णरूप से विद्यमान था और खोज के बाद भी पूर्णरूप में अवस्थित रहेगा। वह पूर्णसत्य केवल हमारी अनुभूतियों से, प्रज्ञा से, बिजली की चमक के समान एक बार में कौध जाता है–समग्र रूप; में फिर उसमें परिवर्तन का कोई उपाय नहीं रह जाता है–वस्तुतः अंश-अंश में, काल-काल में जो प्रकट

हो वह सत्य हो ही नहीं सकता है, सत्य तो पूर्ण है, परितः पूर्ण न रञ्चमात्र कम, न रञ्चमात्र अधिक।

पूर्ण से पूर्ण ले लिये जाने पर भी पूर्ण ही बचता है। परमपुरुष से पूर्ण संसार निकल आता है, एक अनन्त असीमित संसार जिसका न आदि दृष्टिगत होता है न अन्त, न आरम्भ दिखता है न समाप्ति, फिर भी परमपुरुष की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती है। और प्रलयकाल में जब यह सारा विस्तार उस अनन्त में विलीन हो जाएगा तो भी वह पूर्ण ही रहेगा, परितः पूर्ण, न रञ्चमात्र कम, न रञ्चमात्र अधिक।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या—एक मात्र ब्रह्म सत्य है, मिथ्याभूत जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, भेदाभाव से वह भी ब्रह्म के समान पूर्ण होता है। अज्ञान का विनाश हो जाने पर कार्यब्रह्म जगत् का विलयन कारणब्रह्म में हो जाता है। प्रतिभासित जगत् की उत्पत्ति या प्रलय किसी भी प्रकार से ब्रह्म की पूर्णता को प्रभावित नहीं करते हैं। यथा अज्ञानवश रज्जु से मिथ्यासर्प की प्रतीति होती है, उससे रज्जु के स्वरूप में कोई विकार नहीं आता है। ज्ञान हो जाने पर मिथ्यासर्प रज्जु में विलीन हो जाता है, विलयन से रज्जु में कोई विकार नहीं आता है। यथा आचार्य शिष्य के लिए अपनी सम्पूर्ण विद्या का, समग्र ज्ञान का सायास दान कर देता है। योग्य शिष्य उस विद्या को पूर्णरूप से ग्रहण कर पूर्ण विद्वान हो जाता है तथापि आचार्य के ज्ञान में कोई हीनता नहीं आती है, वह पूर्ण बना रहता है, परितः पूर्ण।

यथा सागर को नदियाँ सब ओर से जलसमृद्ध करती रहती हैं किन्तु उससे सागर की अनन्तता में, विस्तार में कोई वृद्धि नहीं प्रतीत होती है। सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों से निरन्तर उसमें से जल लेता है किन्तु उससे सागर के आकार-प्रकार में कोई न्यूनता परिलक्षित नहीं होती है। आँखों के जगत् में वह पूर्ण ही दिखता है, परितः पूर्ण, विस्तृत और विराट्।

परमात्मा की पूर्णता अनन्त पूर्णता है—**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म,** तैत्तिरीय २.१.१। उस पूर्ण से अनन्त पूर्ण निकल आते हैं तथापि पूर्ण निकलने की क्षमता उसी मात्रा में बची रहती है। इसीलिए एक-एक अणु परमात्मा है, एक-एक व्यक्ति परमात्मा का अंश नहीं, पूर्ण परमात्मा है, विराट् तत्त्व है। मानों असंख्य, अगणित पूर्णकमल खिल चुके हैं, खिल रहे हैं और खिलते रहेंगे। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्ण प्रतिच्छवि की स्वयं में तद्रूपता का अनुभव कर लेने वाला पुरुष मानो स्वयं परमात्मा हो जाता है—**तत्त्वमसि।**

ऋषि की कामना है कि दैहिक, दैविक, भौतिक त्रिविध सन्ताप की शान्ति हो अथवा पृथिवी, द्युलोक तथा अन्तरिक्ष स्थानीय तापों की शान्ति हो।

वास्तव में दु:ख एक है चाहे वह देह, मन अथवा आत्मा के स्तर पर हो अथवा पृथिवी, आकाश, पाताल के स्तर पर। जिसने ईश्वर की पूर्णता को जान लिया, उस पूर्णता को अपने स्तर पर अनुभूत कर लिया, उसके दु:ख, दु:ख रहे ही नहीं; वह दु:खों की परिधि से बाहर हो गया—**शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।**

वैदिक वाङ्मय में समानान्तर पदों में मन्त्र उपलब्ध है—

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्यां यतस्तत् परिषिच्यते॥

अथर्वसंहिता १०.८.२९

विशेष—ओ३म् माङ्गलिक पद; प्रणव, ओंकार अथवा परमात्मा का वाचक; अ, उ, तथा म् इन तीन वर्णों के संयोग से निष्पन्न है।

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥

ब्रह्मा के कण्ठ से प्रस्फुटित ओ३म् पद परमपवित्र है। यही कारण है कि योगिजन ओ३म् के उच्चारण से ही साधना आदि कठिन कार्य प्रारम्भ करते हैं। पदमध्य में ३ का अङ्क प्लुत के सूचनार्थ लिखा जाता है। अवतीति ओ३म्, √अव् + मन्; रक्षाभावेन युक्तं पदम्। **अदः**—दूरतरवर्ति; निरुपाधिक परोक्ष ब्रह्म। **पूर्णम्**— √पूर् + क्त; समग्रं त्रुटिहीनं वा। **इंद**—समीपतरवर्ति; सोपाधिक ब्रह्म। **उदच्यते**—उद् + √अञ्च् + लट् कर्मणि, प्र० पु० ए० व०; भ्वादि०, उत्पद्यते। **आदाय**—आ + √दा + ल्यप्, गृहीत्वा। **अवशिष्यते**—अव् + √शिष् + लट् कर्मणि, प्र० पु० ए० व०; अवस्थीयते। **शान्तिः**— √शम् + क्तिन्, प्र० ए० व०; समाप्तिः इत्यर्थः।

ईश्वर की सर्वव्यापकता

शाङ्करभाष्यम्—ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्याऽऽत्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात् याथात्म्यं चाऽऽत्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः। न ह्येवं लक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्य विकार्यमाप्य संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्। सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात्। गीतानां मोक्षधर्माणां चैवम्परत्वात्। तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय कर्माणि विहितानि।

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति। तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनाऽऽत्मविषयं स्वाभविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति। इत्येवमुक्ताधिकायाभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान् मन्त्रान् सङ्क्षेपतो व्याख्यास्यामः।

भाष्यानुवाद–'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों का विनियोग कर्मों में नहीं है क्योंकि वे मन्त्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हैं, जो आत्मा कर्म का शेष नहीं है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप–शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व तथा सर्वगतत्व आदि है जो शब्दों के द्वारा आगे कहा जाएगा। आत्मा के इस यथार्थ स्वरूप का कर्म से विरोध है अतः इन मन्त्रों का कर्मों में विनियुक्त न होना समुचित ही है।

उपर्युक्त लक्षणसम्पन्न आत्मा का यथार्थ स्वरूप उत्पाद्य,[१] विकार्य,[२] आप्य,[३] तथा संस्कार्य[४] अथवा कर्ता-भोक्तारूप नहीं है जिससे कि वह यथार्थ स्वरूप कर्म का शेष हो सके। सभी उपनिषदों का अवसान आत्मा के यथार्थ स्वरूप के निरूपणमें है। गीता तथा मोक्षधर्मों का तात्पर्य भी इसमें ही है। इसीलिए आत्मा के अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि तथा अशुद्धत्व और पापविद्धत्व आदि को लेकर सामान्य जनों की बुद्धि से सिद्ध अर्थात् ग्रहण योग्य कर्मों का ही विधान किया गया है।

कर्मफल के अधिकारियों का भी कथन है कि ब्रह्मतेज आदि दृष्ट तथा स्वर्ग आदि अदृष्ट कर्मफलों का इच्छुक भोक्ता 'मैं द्विजाति हूँ' तथा कर्म के अनधिकार के सूचक काणत्व, कुब्जत्व आदि धर्म मुझसे नहीं हैं, इस प्रकार स्वयं को मानने वाला पुरुष ही कर्मों का वास्तविक अधिकारी है।

अतः ये मन्त्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश करके, आत्मतत्त्व के स्वाभाविक अज्ञान का निवारण करके, शोक-मोह आदि सांसारिक धर्मों के विच्छेदन अर्थात् विनाश के साधनभूत आत्मा के एकत्वादि विशेष ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार कहे गए मुमुक्षुरूप अधिकारी, आत्मैक्यरूप विषय,

---

१. उत्पाद्य—उत्पन्न किए जाने योग्य, यथा पुष्प आदि।

२. विकार्य— विकृतरूप को प्राप्त होने वाला, यथा दधि आदि।

३. आप्य-प्राप्त करने योग्य, यथा विद्या आदि।

४. संस्कार्य— परिमार्जन करने योग्य, यथा यवव्रीहि आदि ये समग्र धर्म, कर्म के शेष भूत पदार्थों में उपलब्ध रहते हैं। आत्मा इन धर्मों से परे है अतः वह कर्म का शेष भी नहीं है।

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक रूप सम्बन्ध, अज्ञाननिवृत्ति तथा परमानन्द प्राप्तिरूप प्रयोजन का वर्णन करने वाले मन्त्रों की हम संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

व्याख्या–शुक्लयजुर्वेद संहिता के चालीसवें अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' के मन्त्र ज्योतिरूप आत्मा के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हैं। ज्ञानकाण्ड का विवेचन होने से उनका कर्म में विनियोग असम्भव है। कर्माचरण से शुद्ध अन्त:करण वाले मुमुक्षु के लिए इन मंत्रों का उपदेश होने से, मंत्रों का देवता आत्मा अथवा परमात्मा है।

ओ३म्। ईशावास्यमिद१ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १॥

अन्वयः–जगत्यां यत् किञ्च जगत्, इदं सर्वम् ईशावास्यम्, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:, मा गृधः, धनं कस्यस्विद्?

शब्दार्थ–जगत्यां–सम्पूर्ण संसार में। यत्–जो। किञ्च–कुछ भी। जगत्–जड़ प्रकृति से युक्त होते हुए भी, गतिमान्। इदं–यह, स्थूल जगत्। सर्वं–सब। ईशा–ईश्वर से। वास्यं–व्याप्त। तेन–उस ईश्वर रूपी कारण से युक्त हुए से। त्यक्तेन–उसके द्वारा प्रदत्त। भुञ्जीथाः–भोग करो। मा–मत। गृधः–लोभ करो। धनं–भोग्य वस्तुएँ। कस्य स्वित्–किसका है?

अनुवाद–अखिल विश्व में जो कुछ भी गतिशील अर्थात् चर–अचर पदार्थ हैं, उन सब में ईश्वर अपनी गतिशीलता के साथ व्याप्त है। उस (कारणरूप) ईश्वर से सम्पन्न हुए से तुम त्याग की भावनापूर्वक भोग करो। आसक्त मत हो क्योंकि धन अथवा भोग्य पदार्थ किसके हैं अर्थात् किसी के भी नहीं है? अथवा केवल ईश्वर के हैं अत: किसी अन्य के धन का लोभ मत करो।

God is omnipresent and pervades in whatever exists in the entire universe living and non-living. We should enjoy the wordly objects, but at the same time surrender all thoughts of this perishable world. We should not have desire of wealth as it is not the possessions of man, but of God.

संस्कृतभावार्थ–अस्मिन् नश्वरसंसारे यावन्ति चराचरवस्तूनि विद्यन्ते तानि सर्वाणि परमेश्वरव्याप्तानि। अतएव तेषु तेषु जागतिकपदार्थेषु उपभोगभावना त्यागपूर्विका स्यात्, पदार्थैः सह स्वस्वामिभावसम्बन्धः न भवेत् लोभासक्तिः वा न कार्या। यतो हि भोग्यपदार्थानां साधकं धनं न कस्यापि वर्तते। अभिप्रायोऽयं यत् लौकिकसम्पत्तयः भौतिकपदार्थाः वा ईश्वरस्यैव अतः यद् भवतः नास्ति तत् प्रति लोभदृष्टिं न धारयतु।

शा०–ईशावास्यमित्यादि। ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया, तेन स्वेन रूपेणाऽऽत्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्। किम्? इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनाऽऽत्मनेशेन प्रत्यगात्मतयाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना। यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाऽऽच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन। तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात् सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात्। एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु। तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसम्बन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः। भुञ्जीथाः पालयेथाः। एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः, गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषया मा कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः। स्विदित्यनर्थको निपातः। अथवा मा गृधः। कस्मात्? कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद् गृध्येत। आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः॥ १॥

भाष्यानुवाद–ईट् धातु प्रशासन अर्थ की द्योतक है, उसी का तृतीयान्त रूप है ईशा। प्रशासन करने वाला परमेश्वर सबका परमात्मा है। वह समग्र संसार का प्रशासक हैं। सभी जीवों का आत्मा हो कर प्रत्यगात्मा अर्थात् अन्तर्यामी होने के कारण अपने उसी रूप से अर्थात् आत्मा के ईशत्व से यह जगत् आच्छादनीय हैं। क्या आच्छादन करने योग्य है? यह सब कुछ, जो कुछ भी पृथिवी में जगत् अर्थात् स्थावर-जङ्गम प्राणिसमुदाय अथवा गमनशील है, वह सब आत्मरूप ईश्वर से आच्छादनीय है। प्रत्यगात्मा अर्थात् अन्तर्यामी रूप से यह सब कुछ मैं ही हूँ, इस प्रकार परमार्थ सत्यरूप परमात्मा है और यह सम्पूर्ण चराचर जगत् मिथ्यारूप अर्थात् असत्य है, अतएव वह अपने परमात्मा से आच्छादन करने योग्य है।

जैसे चन्दन, अगरु आदि की जल आदि के सम्बन्ध से आर्द्रता आदि के कारण होने वाली औपाधिक दुर्गन्ध उन चन्दन आदि के स्वरूप के घिसने से अपने पारमार्थिक गन्ध से आच्छादित हो जाती है, इसी प्रकार अपनी आत्मा में आरोपित स्वाभाविक कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि लक्षणसम्पन्न जगत् द्वैतरूप है और पृथिवी में है। 'जगत्याम्' यह पद (स्थावर-जङ्गम) प्राणिसमुदाय का

उपलक्षण करने वाला होने से सम्पूर्ण नाम तथा कर्मरूपात्मक विकारों का द्योतक है। यह परमार्थ सत्यरूप आत्मभावना से युक्त होने पर त्याज्य हो जाता है।

ईश्वर ही चराचर का आत्मा है, इस प्रकार ईश्वररूप आत्मभावना से युक्त पुरुष का पुत्रैषणा, लोकैषणा तथा वित्तैषणा आदि एषणात्रय के त्याग में ही अधिकार है, कर्म में नहीं। उनके त्याग से अर्थात् उनके त्यागपूर्वक आत्मा का पालन करो। त्यागा हुआ अथवा मृतपुत्र अथवा सेवक अपने सम्बन्ध के अभाव में आत्मा का पालन नहीं करता है, अतएव त्यागपूर्वक ही आत्मा का पालन करो, यही वेदार्थ है। भुञ्जीथाः अर्थात् पालन करो।

इस प्रकार त्यागी हुई एषणाओं में तुम आसक्ति मत करो, धन विषयक आकांक्षा अर्थात् लोभ मत करो। किसी अन्य के धन की अथवा अपने धन की इच्छा मत करो। 'कस्यस्वित्' पद में स्वित् निपात अनर्थक है। अथवा लोभ मत करो। किसलिए? धन किसका हुआ है, इस प्रकार आक्षेप अर्थात् निन्दा सूचक अर्थ भी सम्भव है–धन किसी का नहीं हुआ है जो उसके लिए लोभ किया जाए। 'आत्मा ही यह सब है' इस प्रकार ईश्वर की भावना से यह सब कुछ परित्यक्त हो जाता है अतः आत्मा से ही यह सब आत्मवान् है। सब कुछ आत्मरूप होने के कारण मिथ्या विषय वासनाओं में आसक्ति मत करो, यही मन्त्र का तात्पर्य है।

व्याख्या–सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परिपूर्ण ब्रह्म से आच्छादन करने योग्य है, ब्रह्म से अभिव्याप्त है। नाना रूपात्मक, गतिमान् और नश्वर जगत् में ईश्वर आत्मा रूप में अनुस्यूत है। समस्त चराचर सत्ता का अन्तर्यामी रूप से ईशन करने के कारण ही वह ईश्वर है। जिस प्रकार जल ही बुदबुद् का क्षणिक किन्तु वास्तविक रूप है, उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्म से उत्पन्न, ब्रह्म में अवस्थित और ब्रह्म में लीन हो जाता है। जगत् के मिथ्या होने पर भी जगत् का कारण ब्रह्म सत्य है। अतः मिथ्याभूत जगत् का त्याग करके आत्मतत्त्व का अनुशीलन करना चाहिए। श्रुति कहती है– **न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।**

ईशावास्य अर्थात् ईश्वर का है सब कुछ, मेरा कुछ भी नहीं है। 'मेरे' का कोई स्थान नहीं, कोई उपाय नहीं। मैं भी अपने को मेरा कह सकूँ, इसका भी अवसर नहीं। न जन्म मेरी इच्छा पर निर्भर है, न मत्यु आने के लिए मेरी स्वीकृति लेगी। जब आधार ही मेरे नहीं नहीं रहे तो जीवन भी मेरा नहीं रह गया। 'मेरा' का स्वामित्वभाव लेकर हम पूरे जीवन भ्रान्ति में जीते हैं किन्तु जितना गहराई से सोचते हैं, पाते हैं कि ईश्वर का है सब कुछ, मेरा कुछ भी

नहीं है। जीवन की सारी आवश्यकताएँ, समग्र भावनाएँ किसी अज्ञात छोर से आती हैं, न अनुमति लेती हैं न आज्ञा, चली जाती हैं, तब मेरा क्या स्वामित्व? मेरा कहने का कोई भी कारण नहीं है।

गच्छति इति जगत् अर्थात् निरन्तर गतिमान्, परिवर्तनशील। संसार के प्रत्येक चर-अचर अणु में गति है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, रात्रि, दिवस—प्रत्येक तत्त्व गति के कारण परिवर्तनशील है। इस गति के कर्ता और नियन्ता रूप में कोई परम शक्ति ब्रह्माण्ड में अवश्य विद्यमान होनी चाहिए। जड़-चेतन रूप समग्र जगत् पर ईशन-शासन करने के कारण ईश्वर नाम से प्रसिद्ध इस विलक्षण शक्ति को उपनिषदों ने अमृत का भण्डार कहा है—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥

मुण्डक २.२.५

वह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सार्वकालिक, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वनियन्ता और अखिल विश्व का स्वामी है। सूक्ष्मतम रूप में वह सृष्टि के प्रत्येक कण में समाहित है, प्रत्येक अंश में अन्तर्हित है, प्रत्येक पदार्थ में परिव्याप्त है। आवश्यकता है दृष्टि को तदाकाराकारित करने की—

जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वाला माला कुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥

संसार का कोई तत्त्व उससे रहित नहीं है, कोई वस्तु उससे विहीन नहीं है क्योंकि वह सम्पूर्ण सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, और सृष्टि उसका कार्य। संक्षेपतः जो वस्तु कार्य की सिद्धि हेतु प्रयुक्त की जाती है, वह उपादान कारण कहलाती है, यथा मिट्टी घट का एवं सुवर्ण आभूषण का उपादान कारण है, न्यायदर्शन में इसे समवायिकारण कहते हैं। जो सहायक या कर्ता बन कर अथवा अपनी उपस्थिति से कार्य को सिद्ध करता है, वह निमित्त कारण है, यथा कुम्भकार घट का तथा सुवर्णकार कुण्डल का। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण भी है तथा निमित्त कारण भी। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म अपनी प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण तथा आवरण और विक्षेप—द्विविध शक्तियों से सम्पन्न उपाधि अर्थात् अज्ञान की प्रधानता से उपादान कारण है जैसे मकड़ी जालेरूपी कार्य के प्रति अपनी प्रधानता से निमित्त कारण और अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है क्योंकि उसके द्वारा फैलाया गया जाला उसके शरीर रस से ही निर्मित होता है। उपनिषत्कार ने इसे अनेक दृष्टान्तों से प्रमाणित किया है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।।

मुण्डक १.१.६

मकड़ी जिस प्रकार जाले को बुनती है और निगल जाती है, पृथिवी से जिस प्रकार ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जीवित मनुष्य से जिस प्रकार केश उत्पन्न होते हैं, अक्षर ब्रह्म से उसी प्रकार यह विश्व उत्पन्न होता है।

यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि कारण सदा कार्य में अनुवर्तित होता है, जैसे मिट्टी घड़े में सर्वदा अनुगत होती है। वह अविनाशी ब्रह्म भी अपने सत् रूप में इस जगत् में अन्वित है। प्रत्येक अस्तित्वयुक्त वस्तु के साथ जो घटोऽस्ति, पटोऽस्ति इस प्रकार का सदाधारित व्यवहार दृष्टिगत होता है, वह ब्रह्म की सत्ता का ही अनुवर्तन है–मन में यह विचार संस्कारित करके मनुष्य को संसार का भोग करना चाहिए।

शङ्कराचार्य के अतिरिक्त कतिपय विद्वानों के मत में ईश्वर जगत् का मात्र निमित्त कारण है। रामानुजाचार्य इसी मत के समर्थक हैं, उनके द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत दर्शन में ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। जगत् का उपादान कारण प्रकृति है, जगत के उत्पादन में सहयोग देने वाले यन्त्रादि साधारण कारण हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने त्रैतवाद में इसी विचारधारा का समर्थन किया है।

स्पष्टतः जीवन के, जगत् के एक-एक अणु का निमित्त, एक-एक कण का स्वामी ईश्वर है, 'मेरे' के कहने का काई कारण नहीं हैं तथापि वह प्रवञ्चना आती कहाँ से है? सम्भवतः संग्रह की प्रवृत्ति से, किन्तु वह प्रवृत्ति भी तो निसर्गगत है। विज्ञान भी यही स्वीकार करता है कि यह सब प्रकृति कर रही है परन्तु यन्त्रवत्; इसके विपरीत जब ईशावास्य कहता है कि सब परमात्मा कर रहा है तो विज्ञान का अहङ्कार खण्डित हो कर परमात्मा का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। दो अक्षरों का **मम**–मैं मिट कर तीन अक्षरों का **न मम**–परम में प्रतिष्ठित हो जाता हैं। मिट्टी का दिया बुझ कर महासूर्य का आलोक चारों ओर बिखर जाता है–

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्।।

महाभारत, शान्तिपर्व, १३.४

ईशावास्य का यह महावाक्य परामर्श देता है कि मैं को मिटाना है तो किसी वस्तु को अपना मत मानना। सब कुछ परमात्मा का है, न मेरा न

तुम्हारा, जिस भूमि के टुकड़े पर तुम खड़े हो, वह भी तुम्हारा नहीं। तुम नहीं थे तब भी वह टुकड़ा था और तुम नहीं रहोगे तब भी वह टुकड़ा रहेगा, कितने दावेदार आए और उस भूमि खण्ड में विलीन हो गए। **सम्पति सब रघुपति कै आही, सबै भूमि गोपाल की।** वास्तविक स्वामी परमात्मा ने तो कभी दावा नहीं किया, कभी उद्घोषणा करने नहीं आया कि भूमि खण्ड मेरा है तथापि वही अघोषित स्वामी है। अतः हमारा लोभ व्यर्थ हैं, पानी पर खींची गई रेखा है।

वस्तुतः धन के लोभ के मूल में मनुष्य का एकमात्र प्रयोजन है–सुख।सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर धन और सुख में परस्पर सम्बन्ध नहीं दिखता है। अर्थ से प्राप्त सुख (भोजन, कपड़ा, मकान) आन्तरिक सुख नहीं, मात्र बाहय सुख के साधन हैं। इसका उत्तम उदाहरण है–राजा मीड़ास की कथा। राजा मीडास ने देवता से वर माँगा कि उसकी छुई प्रत्येक वस्तु सोने की हो जाए। उसने जिस वस्तु को हुआ वह सोने की हो गई, वह बड़ा खुश हुआ। उसने भोजन छुआ भोजन सोने का हो गया, वह भूखा रहा। उसने अपनी बेटी को हुआ, बेटी सोने की हुई, अब वह संसार का सबसे दुःखी व्यक्ति था। अर्थात् अर्थ साध्य बन कर अनर्थ करता है साधन बन कर ही हमारे बाह्य सुख की योजना कर सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का उपदेश दिया था। अपरिग्रह अर्थात् अपनी आवश्यकता से अधिक धन संग्रह करने की लोभी प्रवृत्ति का विनाश।

मंत्र में स्वित् अव्यय को अनर्थक मानने पर नियमविधि का अर्थ है कि 'किसी के धन की आकांक्षा न करो।' स्वित् अव्यय को प्रश्नवाचक मानने पर अर्थ है कि 'आकांक्षा न करो, धन किसका है?' इस वाक्य में अनेक नैतिक मूल्य समाहित हैं। संसार में वास्तविक धन हैं ही कहाँ? वास्तविक धन तो है आत्मा, वही अचल हो कर मनुष्य के सम्पर्क में रहता है, धन नहीं। अतः त्यागपूर्वक भोग करने की इच्छा वाले व्यक्ति के लिए अपने या दूसरे के धन के लोभ का कोई औचित्य नहीं है।

जगत् में निर्लोभ ही स्वामित्व का रहस्य है। त्यागी पुरुष ही सम्पूर्ण के भोग का सहज अधिकारी हो जाता है। उसे कुछ पाना शेष नहीं रहता–न इहलोक में, न परलोक में। वह रसलीन हो गया, वह आनन्दपूरित हो गया, वह परमात्मा हो गया। न आकाश मेरा, न धरती मेरी; न जल मेरा, न वायु मेरी। ममता अस्तित्वविहीन हो गई, जीवन निर्मल झील हो गया–**यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा,** अष्टावक्रगीता ८.४।

मनुष्य को यह धारणा दृढ़ कर लेनी चाहिए कि उस परब्रह्म के अस्तित्व

से मैं अस्तित्ववान् हूँ, उसके प्राण से प्राणमान् हूँ, उसकी शक्ति से शक्तिमान् हूँ। उसकी प्रेरणा से कर्मों का अनुष्ठान करता हूँ, उसकी इच्छा से अन्न-जल ग्रहण करता हूँ। उसके सौजन्य से श्वास-प्रश्वास धारण करता हूँ। यह दृश्य अथवा अदृश्य जगत् उसका है, मेरा इससे कुछ लेना देना नहीं है। यह मनोवृत्ति एक दिव्य चेतना की अनुभूति से मन को अनुप्राणित करती है। एक ओर तो वह मन को आत्मविश्वास तथा ऊर्जा से भर कर नकारात्मकता से बचाती है तो दूसरी ओर आस्तिकता का ऐसा पवित्र भाव मन में भरती है कि व्यक्ति स्वयं अतिभोगवादी प्रवृत्ति को त्याग कर मर्यादित जीवन की आकांक्षा करता है। गीता ने कहा है–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

गीता ४.२४

जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि ब्रह्म हैं, हवन किए जाने योग्य द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्मरूप कर्त्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है, उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही हैं।

ऐसी उदात्त विचारधारा का समर्थक पुरुष स्वाभावत: जगत् में केवल दायित्वनिर्वाह की दृष्टि से, केवल शरीर रक्षा की कामना से अनिवार्य और उपयोगी का उपभोग करेगा। किन्तु अनासक्त भाव से उसके नि:स्पृह स्वीकार में भी त्याग भावना होगी। यह त्यागभावना आवश्यकता से अधिक के संग्रह में प्रवृत्त नहीं होने देगी। वह परिग्रह भी करेगा तो इस इच्छा से–

साईं इतना दीजिए जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय॥

कवि रहीम

वस्तुत: देवता की वस्तु के प्रति स्वत्व भावना रखना स्तेय अर्थात् चौरकर्म के समान है. अपनी वस्तु के प्रति लोभ अनुचित है, दूसरे की वस्तु के प्रति लालसा अनैतिक है। जो भोग्यपदार्थ तुम्हारे हैं ही नहीं, ईश्वर के है, ईश्वर के सौजन्य से तुम्हें एक निश्चित-सीमित अवधि के लिए जीवनयापन करने को मिल गए हैं उनमें लोभ अथवा आसक्ति कैसी?

सम्पूर्ण नामरूप प्रपञ्च चैतन्य ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अध्यस्त है अत: यह दृश्य जगत् वास्तव में सत् नहीं, आभास मात्र है अत: जगत में राग और द्वेष दोनों का परित्याग अर्थात् पूर्ण उदासीनता ही त्याग शब्द से वाच्य है। इससे

चित्तवृत्तियों के निरोध में अभ्यास की पुष्टि होती है, मन के प्रपञ्चोन्मुख होने का भय समाप्त हो जाता है। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्म है, तद्व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं, यह जान लेने पर मन इसके प्रति उपेक्षाभाव ग्रहण कर लेता है। वैराग्यसिद्धि के लिए उपेक्षाभाव अनिवार्य है क्योंकि यह मन: विक्षेप को शान्त करके चित्तवृत्ति को अखण्डाकाराकारित होने की क्षमता दे देता है। विरक्ति की इस प्रशस्त अवस्था को ही ज्ञानियों ने त्याग कहा है। अभ्याससिद्ध हो कर यह त्याग शीघ्र ही मोक्ष की ओर उन्मुख कर देता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार–

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात्।

त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यः मोक्षमयो यतः॥

अपरोक्षानुभूति १०६

मुमक्षु मानव के लिए समुचित है कि वह विषय-वासनाओं में, जागातिक पदार्थों में दोष दर्शन की भावना से त्यागपूर्वक भोग करे। सम्पूर्ण प्रपञ्च स्वप्नवत् असत् है, क्षणभङ्गुर है, अनित्य है, जल के बुलबुले के समान नश्वर है; इस प्रकार मन एवं इन्द्रियों की चञ्चलता को निगृहीत कर इस सत्य का अनुभव करना चाहिए कि त्याग जीवन का तथ्य है, यह भी कि ईश्वर के स्वामित्व वाले संसार को अपना समझ कर त्याग करना भी अज्ञानता है, मूढ़ता है। जो मेरा है ही नहीं, उसके त्याग का मुझे कोई अधिकार नहीं है। यह त्याग दान भी नहीं क्योंकि दान फलेच्छा से पुन: सम्पृक्त कर देता है और जो सब कुछ परब्रह्म का है उसके दान का कोई गर्व करे भी तो यह उसकी बुद्धिहीनता है, अल्पज्ञता है। अत: न 'मैं' कहने का कोई कारण बचा, न 'मेरा' कहने को कुछ अवशिष्ट रहा; जिसने इस तथ्य का, इस सत्य का, इस क्षण का अनुभव किया, वह अनन्त सम्पदा का स्वामी हो गया, वह समग्र सृष्टि का उपभोक्ता हो गया। जीवन के सब रस, जीवन का सकल सौन्दर्य, जीवन के सर्व सुख, जीवन के असीमित आनन्द उसके हो गए। ऋषि ने ऐसे ही सरल स्वभाव ब्रह्मज्ञ पुरुष की प्रशंसा में कहा है– परा तथा अपरा विद्या के अध्ययन से निर्मल चित्त वाले एषणाओं और आसक्ति के त्याग रूप योग से शुद्ध अन्त:करण वाले वे संयमी जन परम अन्तकाल में ब्रह्म लोक को प्राप्त करते हैं और परम अमृत हो कर मुक्त हो जाते हैं–

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

मुण्डक ३.२.६

विशेष–जगत्यां– √गम् + अति; संसारे, पृथिव्यां वा। **यत् किञ्च**– यदपि; सामान्य में नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग समग्र ब्रह्माण्ड के चमत्कारपूर्ण अर्थ को प्रस्तुत कर रहा है। **जगत्**– √गम् + क्विप्; चेतनाचेतप्रकृतिः। **ईशा**–√ईश् + क्विप्; तृ० ए० व०; ईश्वरेण। **वास्यम्**– √वस् + ण्यत्; वासयोग्यम् आच्छादनीयम् वा। **त्यक्तेन**– √त्यज् + क्त; तृ० ए० व०; विरक्तभावेन, संन्यासेन। **भुञ्जीथाः**– √भुज् + विधिलिङ्; म० पु० ए० व० + थास्; पालयेथाः। **गृधः**– √गृध् + लुङ्; 'मा' के कारण अडागम का लोप; आकांक्षां कार्षीः। **धनं**– सम्पदादिकम्। **स्वित्**–अव्यय; प्रश्नार्थे अनर्थके वा।

लौकिक संस्कृत के समान ही उपनिषद् साहित्य के इस प्रथम मंत्र में अष्टाक्षरा वृत्ति और चार चरण समन्वित अनुष्टुप् छन्द है। सुबोध अर्थ के सूचक पद प्रसाद गुण को अभिव्यक्त कर रहे हैं। अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है। प्रस्तुत मन्त्र भागवतपुराण ८.१.१० में कुछ अन्तर के साथ दृष्टिगत है।



आत्मशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान

शा०–एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनाऽऽत्मज्ञाननिष्ठतयाऽऽत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः। अथेतरस्यानात्मज्ञतयाऽऽत्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः–

भाष्यानुवाद–इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र का यही तात्पर्य है कि आत्मविद् पुरुष को पुत्रादि एषणात्रय के प्रति विरक्त हो कर, ज्ञाननिष्ठ हो कर आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। आत्मतत्त्व को ग्रहण करने में असमर्थ अनात्मज्ञ पुरुष के लिए ऋषि पुनः एक मन्त्र का उपदेश करते हैं–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

अन्वयः–इह कर्माणि कुर्वन् एवं शतं समाः जिजीविषेत्। एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते। इतः अन्यथा न अस्ति।

शब्दार्थ– इह–इस भौतिक जगत् में। कर्माणि–कर्मों को। शतं समाः–सौ वर्षों तक। जिजीविषेत्–जीने की इच्छा करे। त्वयि–तुझमें। नरे–अनासक्त मनुष्य में। लिप्यते–आसक्त होता है। इतः–कर्मसम्पादन से। अन्यथा–दूसरा कोई उपाय।

अनुवाद— इस लोक में शास्त्र निर्दिष्ट कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्वाभिमानी तुझमें कर्म लिप्त नहीं होंगे। इससे अतिरिक्त दूसरा मार्ग भी नहीं है।

One should perform deeds in a virtuous way as directed in the Sastras and at the same time have the desire to live for a hundred years. One's deeds will not in any way affect him. There is no other way except to perform selfless deeds.

संस्कृत भावार्थः— अस्यां पृथिव्यां शास्त्रनिर्दिष्टेन लोकोपकारकाणि कर्माणि सम्पादयन् फलेच्छामगणयन् शतं शरदः जीवितुमिच्छेत्। इत्थं फलेच्छां त्यक्त्वा यः जनः ईश्वरप्रीत्यर्थं कर्मणोऽनुष्ठानं करोति, सः कर्मलिप्तः नो भवति। तस्य कर्माणि आत्मशुद्धिकारकाणि एव भवन्ति। मुक्त्यर्थं निष्कामकर्मरूपः एकः एव मार्गः विद्यते, अन्यः कश्चन मार्गः न दृश्यते।

शा०—कुर्वन्नेवेति। कुर्वन्नेवेह निर्वर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि। जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसङ्ख्याकाः समाः संवत्सरान्। तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्। तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते। एवमेवम्प्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात् प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः। अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत्।

कथं पुनरिदमवगम्यते। पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेत्युच्यते। ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम्? इहाप्युक्तं 'यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्।' 'ईशा वास्यमिदं सर्वं' 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' 'मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति च' । न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम्।

ततो न पुनरियादिति संन्यासशासनात्। उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति। इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात् संन्यासश्चोत्तरेण निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः। तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति। न्यास एवात्यरेचयदिति च तैत्तिरीयके। 'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावित' इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता। विभागं चानयोर्दर्शयिष्यामः॥ २॥

भाष्यानुवाद—इस लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों का सम्पादन करते हुए सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। इतनी ही मनुष्य की

अधिकतम आयु कही गई है। उस शास्त्रोक्त आयु का तात्पर्य ग्रहण करते हुए यह विधान किया गया है कि यदि सौ वर्ष जीने की इच्छा करे तो नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करे। इस प्रकार से जीवन की इच्छा करने वाले तुझ, मनुष्यत्व मात्र के अभिमान से युक्त, इन अग्निहोत्र आदि कर्मों को करते हुए प्रस्तुत प्रकार से भिन्न अन्य ऐसा प्रकार नहीं है जिस प्रकार से अशुभ कर्मों से लेप न हो अर्थात् जिससे वह पुरुष कर्म से लिप्त न हो। अतः शास्त्रनिर्धारित अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए ही जीवनयापन की इच्छा करे।

यदि कोई व्यक्ति यह शङ्का करे कि यह कैसे निश्चय होता है कि पूर्व मंत्र से संन्यासियों की ज्ञाननिष्ठा कही गई है तथा द्वितीय मंत्र से ज्ञाननिष्ठा से असमर्थ सामान्य पुरुष की कर्मनिष्ठा बताई गई है? तो इसका समाधान है कि क्या तुम्हें इस उक्ति का स्मरण नहीं है कि ज्ञान और कर्म का विरोध पर्वत के समान अचल है। यहाँ भी कहा गया है कि जो भी जीने की इच्छा करे, वह कर्म करते हुए ही। यह सब ईश्वर से आच्छादन करने योग्य है, उस चराचर जगत् के प्रति वैराग्य भावना रखते हुए भोग करे अर्थात् आत्मा की रक्षा करे। किसी के धन का लोभ करना उचित नहीं है। जीवन अथवा मृत्यु का लोभ न करें अपितु वन को चला जाए अर्थात् संन्यास स्वीकार कर ले, यह वेद का आदेश है। वहाँ से फिर घर को न लौटे, इस वाक्य से भी संन्यास का निर्देश किया गया है। आगे ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा दोनों में फल के भेद को कहेंगे।

ये दोनों ही मार्ग सृष्टि के आरम्भ से ही निर्धारित है। इनमें प्रथम कर्ममार्ग है अनन्तर संन्यास। संन्यासरूप निवृत्तिमार्ग को ग्रहण करने पर एषणात्रय–पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा का त्याग करना होता है।

इन दोनों मार्गों में संन्यास मार्ग उत्कर्ष का मार्ग है। तैत्तिरीय का भी वचन है कि संन्यास मार्ग ही उत्कृष्ट को प्राप्त कराता है। वेदाचार्य भगवान् वेदव्यास ने भी भलीभाँति चिन्तन करके पुत्र को उपदेश दिया था कि जिनमें वेद प्रतिष्ठित है, ऐसे ये दो मार्ग हैं – प्रथम, संसार में प्रवृत्त रखने वाला धर्ममार्ग अर्थात् कर्त्तव्यमार्ग और द्वितीय भलीभाँति समझा हुआ निवृत्ति अर्थात् वैराग्यमार्ग। इन दोनों मार्गों के भेद आगे कहेंगे।

व्याख्या–तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। यजुर्वेद ३६.२४।

यह ब्रह्म जो सब का द्रष्टा, दिव्यगुण वालों के लिए हितकारी, सृष्टि से पूर्व विद्यमान अर्थात् नित्य, शुद्ध व सर्वत्र व्याप्त है। उस ब्रह्म की अनुकम्पा से हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक प्राणों को धारण करें, सौ वर्ष तक सुनने की सामर्थ्य से युक्त रहें, सौ वर्ष तक प्रकृष्ट गुणसम्पन्न वाणी बोले, सौ वर्ष तक अदीनभाव से युक्त रहें अथवा सौ वर्षों से भी अधिक आयु का समुचित उपभोग करें।

जिजीविषा अर्थात् जीने की इच्छा सांसारिक कर्माधिकारी मनुष्य के लिए कही गई है, ज्ञानाधिकारी के लिए नहीं। वह जो जीवन और मृत्यु दोनों से उदासीन होता है, रुचिविहीन होता है। शतवर्षीय जीवनयापन का सर्वोत्तम मार्ग है कर्मों का सम्यक् अनुष्ठान रूप मार्ग। मानव के लिए उचित है कि वह आयु का प्रत्येक क्षण अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुरूप नित्य-नैमित्तिक कर्मों का सम्पादन करते हुए व्यतीत करे, यह ध्यान रखते हुए कि कर्मों का यह शास्त्रोक्त आचरण मानवमात्र का हित सम्पादन करने वाला हो। शास्त्रनिर्धारित कर्ममार्ग को चरितार्थ कर मानव अपने लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति में सफल हो सकता है। इस मर्त्यलोक में विश्राम नहीं है, यहाँ तो जीवन पर्यन्त कर्म करना है। लक्ष्मी कर्मशील व्यक्ति का वरण करती है, अकर्मण्य गुणों में श्रेष्ठ होते हुए भी तिरस्कृत है, कर्मठ जन इन्द्र को भी प्रिय हैं। कर्मण्य जन ही मोक्षरूप मधुरफल का अधिकारी होता है और सूर्य के समान मध्याकाश में प्रतिष्ठित होता है अतः कर्म करना ही श्रेयस्कर है–

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥
चरैवेति चरैवेति।
चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति। ऐतरेय ब्राह्मण ७.३.१२.१६

मनुष्य योनि एकमात्र ऐसी योनि है जो एक ही साथ कर्मयोनि भी है और भोगयोनि भी। मानव पूर्वकृत सुकृत-दुष्कृत कर्मो का भोग तो कर ही रहा है, कर्मों के सम्पादन से वर्तमान और भावी जन्मों को सुधारने का अवसर भी ईश्वर ने उसे दिया है। अतः उसे संचित और प्रारब्ध कर्मयोग के अतिरिक्त क्रियमाण कर्मों को अधिक महत्त्व देना चाहिए क्योंकि क्रियमाणकर्म उसके हाथ में है।

प्रत्येक सत् या असत् कर्म विशिष्ट परिणामदायी होता है, जीव उस

निर्धारित परिणाम को भोगने के लिए विवश है—**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्,** नारदपुराण (पूर्व) ३१.७०। अन्यथा कृतप्रणाश अर्थात् अपने किए कर्मफलों का विनाश तथा अकृताभ्याम् अर्थात् दूसरों के किए कर्मफलों का उपभोग—ये दो महान् दोष सृष्टिचक्र को अव्यवस्थित कर सकते हैं। कर्म ही सत्–रज–तम, तीनों गुणों में कार्यरूप संसार की गति को प्रवर्तित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से कर्म की गहन गति—**गहना कर्मणो गतिः** की निरन्तरता हेतु पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। किसी के लिए भी कर्म से बचे रहना सम्भव भी नहीं है—**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः,** गीता ३.५। कर्म के निरन्तर सम्पादन का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है प्रकृति, जो सदा अप्रमादपूर्वक अपना कार्य करती रहती है। बन्धन के भय से कर्म को त्याग देना उचित भी नहीं है। कर्म के बन्धन का गुण उस कर्म को कर देने में निहित नहीं है अपितु इस प्रयोजन या इच्छा में समाहित है जिससे प्रेरित हो कर कर्म किया जाता है। दोष कर्म में नही है दोष बुद्धि में है। दुष्ट व्यक्ति दुर्भावना से की गई मानव हत्या का पाप भोगेगा और सैनिक देशरक्षा की भावना से की गई हत्या का पुण्य भोगेगा। वह कर्म विशिष्ट अपना फल दिए बिना नष्ट नहीं होता है, जैसे लक्ष्य को उद्दिष्ट कर छोड़ा गया बाण सफल ही होता है, जैसे विषमिश्रित अन्न का परिणाम दुःखद ही होता है—

न चिरात् प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम्।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर।

वाल्मीकि रामायाण, अरण्य० २९.९

कर्म बहुआयामी शब्द है—इष्टकर्म, पूर्त्तकर्म, लोकोपकारक कर्म, नित्यनैमित्तिक कर्म, निष्काम कर्म, सकाम कर्म–कर्म की परिधि में समाहित हो जाते हैं। कर्म निरन्तर गतिशीलता के लिए प्रेरित करता है, गतिशील जीवन सन्तोषदायक अतः सुदीर्घ स्वस्थ होता है। कर्मशील साधक शुद्ध चित्त में ज्ञानोदय से मोक्ष रूप लाभ को प्राप्त करता है—**स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः,** गीता १८.४५।

कर्म ही मानव योनियों का निर्धारण करते हैं। सर्वभूतहित की कामना से शुभ कार्य के अनुष्ठाता शीघ्र ही उत्तम योनियों को प्राप्त करते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कुल में जन्म लेकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। इसके विपरीत अशुभ आचरण वाले व्यक्तियों को तत्काल अशुभ योनि प्राप्त होती है, वे कुत्ते, सुअर, चाण्डाल आदि योनियों को भोगते है। निकृष्टतम कर्म में लिप्त जीवों को कीट, पतङ्ग मछली, पक्षी, बाध सर्पादि योनियों में जन्म मिलता है। जिनके पाप और पुण्य समान होते हैं, वे मानव का, और जिनके

पुण्य कम और पाप अधिक होते हैं वे स्थावरभाव अर्थात्–वृक्ष, लता, पर्वत, गुल्म इत्यादि जन्मों का भोग करते हैं। स्पष्ट है कि शुभ कर्म से सुख तथा पापकर्म से दुःख मिलता है। कर्म फल देता ही है अकर्म नहीं–

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥

महाभारत, अनुशासनपर्व ६.१०

आसक्ति रहित हो कर विदेहवृत्ति से संसार एवं ईश्वर के निमित्त किए गए कर्म पाप और पुण्य से ऊपर उठा कर व्यक्ति को संसार बन्धन अर्थात् जन्ममृत्युरूप कष्ट से मुक्तिभाव को प्राप्त कराते हैं, यही निष्कामकर्मता है। महात्माकृष्ण के अनुसार–

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ गीता ३.९

यह निष्कामकर्मता ही यज्ञ का दूसरा नाम है, स्वार्थभाव से रहित ऐसा यज्ञ–जिसमें प्राणिमात्र का कल्याण निहित है, जिसमें असुरों की भाँति केवल अपने लिए जीवन जीने का निषेध है, जिसमें देवों की भाँति 'इदन्न मम' की भावना का विस्तार करने वाले विचार समाविष्ट हैं, जिसमें कर्मण्य भाव से सौ वर्ष जीने की कामना सम्प्रेषित है। स्वर्गप्राप्ति के अनेक प्रकार हो सकते हैं किन्तु मुक्ति के नहीं; मुक्ति का इच्छुक पुरुष समग्र कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके अनासक्त भाव से कर्म करता हुआ भी, जल से कमल की भाँति, कर्म से लिप्त नहीं होता है–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ गीता ५.१०

अत्यधिक कठिन है संसार में रह कर कर्म में लिप्त न होना और वह भी सौ वर्षों तक; जैसे कोई काजल की कोठरी में जाए और काजल की एक भी रेखा उसके शरीर को न छू सके। ईशावास्य का ऋषि कहता है कि एक ही उपाय है कि व्यक्ति सौ वर्ष काली कोठरी में रह कर भी श्वेताभ रहता है, कर्मों में लिप्त नहीं होता है। एक ही उपाय है कि कर्म भी कर सकता है और कर्तापन से भी छूट सकता है। एक ही उपाय है कि कर्म से पलायन भी न हो और फलाफल रूप बन्धन भी न हो–

ध्यान दे कर देखें तो कर्म दो प्रकार से हो सकता है। कर्ता रूप से भी, अभिनेता रूप से भी। कर्ता रूप कर्म बाँधता है परन्तु कर्ता के स्थान पर अभिनेता हो जाए तो समस्त रूपान्तरण हो जाता है। अभिनय सतह पर ही

रहता है, गहरे में नहीं उतरता, बाहर रह कर ही विदा हो जाता है, भीतर सब कुछ अस्पर्शित रह जाता है। धरा पर अवतरित कर्ता राम ने सीता के खो जाने पर हृदय से आँसू बहाए होंगे, प्राणों से आर्त्तनाद किया होगा। इसके विपरीत अभिनेता रङ्गमञ्च पर अभ्यास की परिपक्वता से भले ही अधिक आँसू बहाए, अभिनय की कुशलता से अधिक आर्त्तनाद करे; अन्तर में अभिनय ही है कर्म नहीं, हृदय में अभिनेता ही है कर्ता नहीं। श्री कृष्ण ने कहा कि कर्म और अभिनय में, कर्ता और अभिनेता में तादात्म्य स्थापित न करने वाला ही धवलिमा को धारण करता है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

गीता २.४७

संसार के विशाल रङ्गमञ्च पर व्यक्ति यदि अभिनेता की भाँति निःस्पृहापूर्वक जीवन बिताए, पात्र रूप में जीवनकथा को प्रस्तुत करे तो कोई कारण नहीं है उसके बन्धनों में कसने का। ईश्वर सृष्टि रचना करके भी उसमें लिप्त नहीं होता है, इसी प्रकार मनुष्य कर्ता तो न ही बने तो अच्छा है, कर्ता तो वह परमात्मा को ही बना रहने दे। व्यर्थ में अपना भार बढ़ाने से क्या लाभ? अज्ञानता में अपना दायित्व अधिक करने से कैसी तृप्ति? स्वयं तो भारविहीन ही रहे, सरल ही रहे, प्रत्यग्र ही रहे तो जीवन को महासूर्य से आलोकित होने में विलम्ब न लगेगा।

ऋषि का मन्तव्य है कि जीव काममय है, वह कामना के अनुरूप सङ्कल्प, सङ्कल्प के अनुरूप कर्म और कर्म के अनुरूप फल को प्राप्त करता है। आत्मा के संसारित्व में कामना ही कारण है, संसार में संसरण में कामना ही हेतु है। कामना का अभाव होने पर कर्मों का अभाव हो जाता है, फलतः संसरण का हेतु शेष न रहने पर प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है। ब्रह्मज्ञ वह विद्वान् सर्प के द्वारा उतार कर फेंकी गई केंचुल के समान जन्ममरण विनिर्मुक्त हो जाता है–

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।। गीता ४.३७

विवेक बुद्धि का आश्रयी कामनाओं का क्रमशः परित्याग करता हुआ आत्यन्तिक कल्याण की कामना से प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण करता है और मोक्षरूप परमपद का अधिकारी होता है–**तदनत्याय कल्पते,** मुक्ति की यही सहजतम विधि है अन्य कोई युक्ति ऐसी सहज नहीं दिखती है–**नान्यः**

पन्थाः विद्यतेऽयनाय। अतः मुक्ति कामी पुरुष को निर्लिप्त भाव से केवल शरीर से कर्म करने चाहिए। कर्म स्वभावानुसार शरीरमात्र से सम्पादित होने पर आत्मा कर्मों के सम्बन्ध से अविच्छिन्न, असङ्ग और निरपेक्ष हो जाता है जो उसका यथार्थरूप है–**असङ्गो ह्ययं पुरुषः।** कर्तृत्व के अभिमान से रहित पुरुष कर्मों के प्रमुख फल, संसरणजन्य प्रधान दुःखों से छूट जाता है। अतः आत्मवेत्ता को चाहिए कि आसक्ति से रहित होकर कर्त्तव्य कर्मों के सम्यक् अनुष्ठान में आजीवन संलग्न रहे। पुत्रैषणा, लोकैषणा तथा वित्तैषणा से विरक्त हो कर निर्मल मन को आत्मतत्त्व में लीन कर दे, आत्मतत्त्व को परमपद में सामहित कर दे तथा स्वयं ज्योति से परम ज्योति बन कर अमृतत्व के पान का अधिकारी हो जाए–

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥ गीता ३.१९

वस्तुतः शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित कर्म का सिद्धान्त विचित्र है जिसके अनुसार कर्म व्यक्ति में लिप्त नहीं होता अपितु व्यक्ति ही कर्म में लिप्त होता है, जिसके अनुसार मनुष्य को कर्म तो करना ही है क्योंकि कर्म ही उसकी निश्चित प्रकृति है, निग्रह सम्भव नहीं है। कर्म करते हुए भी उसे कर्तापन के अभिमान से सर्वथा असम्पृक्त रहना है, गृहस्थी बसा कर भी गृहस्थ का अहङ्कार स्वीकार नहीं करना है अन्यथा सारी साधना निष्फल हो जायेगी–

अभिमानं कृतं कर्म नैतत् फलवदुच्यते।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम्॥

महाभारत, शान्तिपर्व, १२.१६

लोकसङ्ग्रह की दृष्टि से भी निष्काम कर्म अपरिहार्य हैं अतः निस्सङ्ग बुद्धि से यथाधिकार चातुर्वर्ण्य के कर्म का सम्पादन करना चाहिए। कर्म की इच्छा होने पर चित्त के आदेश से इन्द्रियाँ कर्म में प्रवृत्त होती हैं किन्तु बुद्धिजन्य अनुभव साक्षी है कि इन्द्रिय कृत कर्म के फलदान की सामर्थ्य जीव में नहीं, द्रष्टा में होती है। एक विद्यार्थी प्रश्नपत्र में आगत प्रश्नों के समाधान तो प्रस्तुत कर सकता है किन्तु उन उत्तरों के मूल्याङ्कन का अधिकार उसे नहीं होता है। कर्म के इसी सिद्धान्त को लक्ष्य कर तारे ने कहा, मैं प्रकाश दूँगा, अन्धकार दूर होगा या नहीं मैं नहीं जानता–

कहिल तारा ज्वालिब आलोखानि,
आँधार दूर हबे न हबे,
शे आमि नाहि जानि। स्फुर्लिङ्ग, श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर

विशेष–**इह**–अस्मिन् इति इदम्; इ + ह आदेश, भौतिके संसारे। **कर्माणि**– √कृ + मनिन्; द्वि० ब० व०; मुक्तिहेतुकानि कार्याणि; यहाँ ऋषि का अभिप्राय अनासक्त कर्म से है। **शतं समाः**– 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र से द्वितीया; शतायुर्वै पुरुषः इति श्रुतिः; शतवर्षावधिपर्यन्तं यावज्जीवमित्यर्थः। **जिजीविषेत्**– √जीव् + सन् इच्छार्थे; द्वित्व + विधिलिङ्; प्र० पु० ए० व०; भ्वादि०; जिजीविषेः; 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र से पुरुष व्यत्यय के कारण रूप परिवर्तित होकर जिजीविषेत्; जीव्यात्। **त्वयि**–युष्मद् + स० ए० व०; प्रसङ्ग बल से 'तव' षष्ठी का विभक्ति व्यत्यय हो कर त्वयि; भवति। **नरे**–नृन् पाति इति नरः अथवा न रमते इति नरः; स० ए० व०; अनासक्तजने। **कर्म**– क्रियमाणं कर्म। **लिप्यते**–√लिप् + लट् कर्मणि; प्र० पु० ए० व०; आसज्यते। **इतः**–अस्मात्; इदम् (इ) + तसिल्; निष्कामकर्मसम्पादनेन। **अन्यथा**–अन्येन प्रकारेण इति; अन्य + थाल्; अन्योपायः।

प्रस्तुत मन्त्र में अष्टाक्षरा वृत्ति और चार चरण होने से अनुष्टुप् छन्द है।



अज्ञानी की निन्दा

शा०–अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते–

भाष्यानुवाद–अब अज्ञानी की निन्दा के लिए यह मन्त्र आरम्भ करते हैं।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताऽँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥ ३ ॥

अन्वयः–असुर्या नाम ते लोकाः, अन्धेन तमसा आवृताः। ये के च आत्महनः जनाः, ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति।

शब्दार्थ–असुर्याः–सूर्यविहीन, अन्धकारित, असुर सम्बन्धी–लोकाः वासस्थान, शरीर। अन्धेन–अज्ञान से। तमसा-अन्धकार से। आवृताः– आच्छादित हैं। आत्महनः–आत्मा का ह्रास करने वाले। प्रेत्य–मर कर। अभिगच्छन्ति–जाते हैं।

अनुवाद–असुरों अर्थात् अज्ञानियों के प्रसिद्ध वे लोक अज्ञानरूप गहन अन्धकार से आच्छादित हैं। जो आत्मा का हनन अर्थात् ह्रास करने वाले अर्थात् अविद्यादोष से ग्रस्त जीव है वे मर कर उन्हीं दुःख क्लेशरूप भयङ्कर लोकों को जाते है।

The regions where evil dwells are covered in utter darkness

due to evils. Those who destroy their purity of soul without having light of real knowledge, have to certainly go to those regions after death.

संस्कृतभावार्थः–असुर्याः नाम केचन लोकाः सन्ति, ते अज्ञानरूपेण गहनान्धकारेण आच्छादिताः सन्ति। ये अविद्यादोषग्रस्ताः आत्मनाशिनः जनाः वर्तन्ते, मृत्योरनन्तरं ते मानवाः क्लेशदायकान् तान् एव भयङ्करलोकान् प्राप्नुवन्ति।

शा०–असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषां च स्वभूता लोकाः असुर्या नाम। नामशब्दोऽनर्थको निपातः। ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादितास्तान् स्थावरान् तान् प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्। ये के चाऽऽत्महनः।

आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जना येऽविद्वांसः। कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति। अविद्यादोषेण। विद्यमानस्याऽऽत्मनस्तिरस्करणात्। विद्यमानस्याऽऽत्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्यैव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते॥ ३॥

भाष्यानुवाद–असुर्याः अर्थात् अद्वयरूप परमात्मभाव की अपेक्षा देवता आदि भी असुर हैं उनकी सम्पत्ति रूप लोक असुर्य हैं। मन्त्र में उल्लिखित नाम शब्द अर्थहीन है। जिनमें कर्मफलों की प्राप्ति अर्थात् दर्शन अर्थात् भोग करना होता है, वे लोक ही जन्मरूप अन्धकार अर्थात् अदर्शनात्मक अज्ञानरूप तम से आवृत अर्थात् आच्छन्न हैं। मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति इस शरीर को त्याग कर अपने कर्म तथा ज्ञान के अनुसार उन्हीं स्थावर योनियों को प्राप्त करते हैं। जो कोई आत्मा का हनन अर्थात् अपना नाश करने वाले हैं वे आत्मघाती हैं।

वे लोग कौन है जो अज्ञानी हैं? किस प्रकार से आत्मा की सदा हिंसा करते है? अविद्यारूप दोष से ग्रस्त वे अपने नित्यसिद्ध आत्मा का तिरस्कार करते हैं। नित्यसिद्ध आत्मा का जो कार्यरूप फल है, (अज्ञानवश) अजरत्व, अमरत्व आदि वह ज्ञान लक्षण सम्पन्न फल (मृत के समान) तिरोहित हो जाता है अतः प्रकृत अज्ञानी जीव आत्मघाती कहे जाते हैं। उस आत्मघातरूप दोष के कारण वे जन्म तथा मृत्यु को पुनः पुनः प्राप्त करते है।

व्याख्या–नरत्वं दुर्लभं लोके–मानव शरीर परम दुर्लभ तथा अन्य सभी योनियों में श्रेष्ठ है। ईश्वर की विशेष अनुकम्पा से जीव को जन्म-मरण रूप कष्ट से मुक्ति पाने के लिए मिला है। इस सर्वोत्कृष्ट शरीर को सामान्यतः

अस्वाभाविक रूप से समाप्त कर देना आत्महनन कहलाता है किन्तु यह तो शरीर की हत्या है, केवल वस्त्र का परिवर्तन है। अत: शरीर की हत्या स्वयं कृत होने पर भी स्वयं की हत्या नहीं होती है। वास्तव में अज्ञान के कारण आत्मा के ह्रास के मार्ग पर चलना आत्महत्या है। अल्पज्ञतावश स्वयं को जाने बिना जीवन व्यतीत करना आत्महनन है; ऋषि जीवन की इस निकृष्ट विधा को ही आत्महत्या कहते हैं।

कामनाओं की पूर्ति ही लोक जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, उपभोग की इच्छा से नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान उचित-अनुचित रीति से होना ही चाहिए, कृत-अकृत कर्मों में आसक्ति गर्हित नहीं है, इस प्रकार की अज्ञानरूपी तिमिरबुद्धि से आच्छन्न जन ही आत्मघाती हैं। वे अपने यथार्थ रूप को नहीं पहचानते हैं। वे भौतिक सुखों की क्षणिक छाया को ही जीवन का सुख मान कर कस्तूरी मृग की भाँति जन्म-जन्मान्तरों में भटकते रह कर अपना विनाश करते हैं। वे वर्तमान जीवन को तो नष्ट करते ही हैं, आवागमन के कष्टदायी चक्र में फंसे रह कर नारकीय लोकों में संसरण करते हैं।

वस्तुत: आत्महन्ता शब्द ईश्वर से उपहार रूप में अधिगत मानव योनि के दुरुपयोग का सूचक है। इस अलभ्य, श्रेष्ठतम शरीर से आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अभिप्राय सिद्ध होते हैं। परोपकार, दयालुता, करुणा, मैत्री आदि आधिभैतिक उन्नति के लक्षक है। इनका आचरण न करने वाला पुरुष आधिभौतिक अन्धकार से पूरित लोकों को गमन करता है अर्थात् कीटादि क्षुद्र जन्तुओं की सुख-सुविधा विहीन योनियों को प्राप्त करता है। विपत्तिकाल में धैर्य का प्रदर्शन न करते हुए कृत्रिम साधनों से असमय में मृत्यु का वरण कर व्यक्ति आधिदैविक क्षति का भागी होता है। ऐसा व्यक्ति अपने पापाचरण से आधिदैविक कोप अर्थात् दैवी शक्तियों के कोप का भाजन होता है। सद्गुणों के आधान से सम्पन्न भावनाओं का तिरस्कार करना, अन्तरात्मा की आवाज की उपेक्षा करना, सत्त्वोगुणी प्रवृत्तियों का दमन करना, सद्विचारों की अवहेलना करना, आध्यात्मिक स्तर से पतित करता है। अहंकार के मद से मत्त वह जन आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग से भ्रष्ट हो कर मोक्षरूप पुरुषार्थ से वञ्चित रह जाता है।

मांस, मज्जा, रुधिर, अस्थि निर्मित शरीर आत्मा का आवरण है, ईश्वर का उपायन है, परमतत्त्व का आयतन है, निराकार देवत्व का साकार मन्दिर है। उस पवित्र शरीर को दूषित, कलुषित करते हुए पतनगर्त में ले जाना भी आत्महत्या है, ईश्वरीय आदेश की अवज्ञा है। जिस प्रकार सुख-दु:ख ईश्वर

के दान है उन्हें मनुष्य सहन करता ही है, उसी प्रकार प्राण भी परमतत्त्व की धरोहर हैं, उनकी रक्षा भी अनिवार्य कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य की उपेक्षा करने वाला तीनों लोकों–आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक की अपूरणीय क्षति का दोषी होता है। इस प्रकार संसार से उद्वेजित हो कर, मन को मार कर, औदासीन्य भाव से जीवन जीने में कोई रस नहीं है, उपनिषद् के शब्दों में यह भी एक प्रकार का आत्महनन ही है। हिरण्मय ज्योतिकोष का आवरणरूप साकार शरीर ही निराकार परमतत्त्व की उपासना का, ज्ञप्ति का माध्यम होने से सम्मान्य है–

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यऽरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अथर्ववेद १०.२.३१-३२

स्वाभाविक है मनुष्य शरीर मिला है तो सुख-दुःख के झोंके भी जीवन में आते रहेंगे। राम, कृष्ण ने भी मनुष्य शरीर धारण किया तो बाल्यकाल से जीवनान्त तक दुःख ही दुःख झेले। उन अपार दुःखों में वे विचलित नहीं हुए, परिस्थितियों के अनुसार साहस बटोर कर उन दुःखों का सामना किया, आत्महत्या का विचार भी मन में नहीं आने दिया। श्री कृष्ण ने गीता में कहा- योग उसे कहते है जिसमें दुःख के संयोग का वियोग होता है–**तं विद्याद्दुः-खसंयोगवियोगं योगंसञ्ज्ञितम्**। दुःख के कारण एकत्र हों पर मनुष्य उनसे अप्रभावित रहे, सुख के क्षण आएँ किन्तु मनुष्य अभिमान में चूर न हो तो कर्मफल के भोग से आकुल व्याकुल होकर आत्महन्ता होने की स्थिति कभी न आएगी। महाकवि कालिदास ने भी लिखा था–किसको केवल सुख मिला, किसको केवल दुःख? सुख और दुःख तो रथ के पहिए के समान ऊपर-नीचे आते-जाते रहते हैं, आवश्यकता हैं उनमें समभाव से स्थित रहने की–

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

सत्य है कि आनन्द ही सबके जीवन का अभिप्रेत, अभीष्ट है किन्तु व्यक्ति अपने ही आनन्द से अनभिज्ञ है। जिसने अपने मूल को, अपनी जड़ो को पहचानने का प्रयास नहीं किया, उनसे प्रीति नहीं स्थापित की, वह म्लान पुष्प वातावरण को प्रफुल्लित कैसे करेगा, पर्यावरण को सुगन्ध से सुवासित कैसे करेगा। शुष्क अन्तर् से वह फूल शुष्कता ही देगा, नीरसता ही प्रदर्शित करेगा।

सफलता का एकमात्र रहस्य है स्वयं को जानना, प्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्व से परिचित होना। आत्मबोध के अभाव में मनुष्य भेददर्शी हो जाता है, फलेच्छा से कर्म करता हुआ वह निरन्तरं दुःखों में डूबा रहता है, निश्चय ही उसमें **न कर्म लिप्यते** फलित नहीं हो पाता है। आत्मपरिचय की महत्ता का यह रहस्य खुलते ही सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बिखर जाता है, सब कुछ चिदानन्दमय हो जाता है।

असुर कौन हैं? असुर वे हैं जो **असुषु रमन्ते**–प्राणों में अर्थात् प्राणवान् शरीरों में रमण करते हैं अर्थात् सांसरिक सुख-भोगों में लीन रहते हैं। अथवा **असवः प्राणा बुद्धिर्वा अस्ति येषाम् असुः** अर्थात् प्राणों वाले अर्थात् शरीर को अधिक ही महत्त्व देने वाले मूढ़बुद्धि असुर हैं। अथवा सांसारिक बुद्धि वाले अर्थात् त्रिगुणात्मिका बुद्धि से सञ्चालित होने वाले लोग असुर हैं। तात्पर्य यह है कि जो शरीराभिमानी हैं शरीर के योगक्षेम में आसक्त रहते हैं, सत् की अपेक्षा रजस्, तमस् से परिचालित होते हैं, वे असुर हैं।

पाठ भेद असूर्य के आधार पर असुर वे हैं जो अन्धकार में, ज्ञान सूर्य के प्रकाश से रहित घोर तमस् से आवृत लोकों में जीते है। यह तमस् भौतिक नहीं, आध्यात्मिक अन्धकार है। इस तमस् रूप आध्यात्मिक अन्धकार के प्रसार के कारण अज्ञानी मोक्ष को नहीं प्राप्त करता है। जन्म और मृत्यु से मुक्ति ही मोक्ष है। विवेक बुद्धि से काम्य कर्मों का अनुष्ठान न करने वाला कोई एक विरल संन्यासी स्वयं को संसार चक्र से बचा लेता है। अविवेक से संसार है, विवेक से नही–इस विवेक से सम्पन्न अविवेक से निवृत्त हो जाता है। इसके विपरीत पापकर्म में आकण्ठ निमग्न एवं आत्मज्ञान से शून्य आसुरी मनोवृत्ति वाले सभी सांसारिक जन आत्मा को जाने बिना, अन्धकारजीवी प्राणियों की भाँति, अन्धकार में ही राह टोहते आगे बढ़ते हैं–

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

कठ २.५

अन्धदृष्टि वाले, आसुरी मनोवृत्ति वाले किसी का दीपक कैसे बन सकते हैं क्योंकि वे तो स्वयं कलुषित शरीरों से पाप-पुण्य के भोगायतन देहों में मानों असुर्य लोकों में निवास करते हैं। वे तो स्वयं दूषित भावनाओं से, दुःखद अनुभूतियों से उल्लासविहीन लोकों में निवास करते हैं। क्योंकि स्वयं को जानना ही प्रफुल्लता बिखेर देता है, स्वयं को पहचानना ही महासूर्य बना देता है फिर तो अन्तर् से प्रकाश की गङ्गा बहने लगती है, चतुर्दिक् अनन्त प्रकाश

ही प्रकाश फैल जाता है। प्रकाश से प्रकाशित प्राणी सहयात्रियों को भी प्रकाश लोकों की यात्रा कराने में सक्षम होता है। अतः बुद्ध ने कहा था–**आत्मदीपो भव।**

अहङ्कार से आपूरित देवता भी अज्ञान और स्वार्थपरता के कारण असुरवत् व्यवहार से असुर ही हो जाते हैं। ऐसे वे देवता भी आसुरी स्वभाव की प्रबलता से देवत्व से विमुख होकर संसार में संसरण करने को विवश होते हैं। हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह आदि दोषों में क्रमशः लिप्त होते हुए नित्यमुक्त आत्मा के हनन में तत्पर होते हैं। ज्ञान के प्रकाश से, सत्य की ज्योति से रहित नारकीय लोकों के भागी होते हैं। सिद्ध हैं कि औपनिषदिक ऋषि देव, मनुष्य, पितृ, गन्धर्व सबके लिए एक प्रकाश पूरित सच्चिदानन्दमय लोक में विश्वास करते थे, जहाँ शुद्ध, शुभ चित्त वालों का ही प्रवेश स्वीकार्य था–**अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्,** कठ १.३।

प्रश्न है कि अजर-अमर आत्मा का हनन सम्भव है क्या? हनन तो शरीर का होता है, निर्गुण-निराकार आत्मा का नहीं। आत्मा तो **न जायते म्रियते वा विपश्चित्** है। **अविनाशी वा अरे ऽयमात्मा** के लिए उपनिषत्कार हनन शब्द का प्रयोग क्यों कर रहा है? वस्तुतः आत्मा का हनन होता ही है–अज्ञान तथा अभाव—अन्धकार के दोनों रूप आत्मा का साक्षात् हनन करते हैं। अज्ञान के कारण जीवन जीने की सम्मानपूर्ण कला से अनभिज्ञता तथा अभाव के कारण अस्पृश्य आत्मा को अनुचित कर्म में व्यस्त कर देना आत्मा का हनन ही तो है। तमस् गुण से आवृत मन और बुद्धि वाले व्यक्ति वर्तमान जीवन में धन-यश-वैभव-समृद्धि के अधिकारी हो सकते हैं किन्तु उनकी भोग दृष्टि उनके आत्मदर्शन की सामर्थ्य का नाश कर देती है, वे निर्वाण रूप परमप्रयोजन से वञ्चित रह जाते हैं–

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

गीता १६.२०

अतः √तनु विस्तारे + क्त = आतत से व्युत्पन्न आत्मा अपने चैतन्य रूप से सबमें अनुप्रविष्ट हो कर सम्पूर्ण जगत् को धारण किये हुए है अतः असीम यह ससीम देह की अपेक्षा विलक्षण है। अतः सत्य अर्थों में आत्महनन की सांसारिक क्रिया इसके साथ सम्भव नहीं है क्योंकि **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे,** कठ २.१८। तथापि निकृष्टमार्गगामियों को मोक्ष के मार्ग में उन्मुख करने के हेतु से ऋषि ने आत्महन दोष से दूषित जनों

के लिए नर्क सदृश अपार कष्टों का विधान किया है। 'अस्ति' में आस्था अभिव्यक्त कर श्रुति भी अमरत्व के इसी एकमात्र प्रशस्त पथ की सूचना देती है–

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

श्वेताश्वतर ३.८

विशेष–असुर्याः अ + √सु + रम् + ड; असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः अथवा न सुराः इति असुराः; तेषाम् इमे इति असुर्याः; असुर + ण्यत्; प्र० ब० व०; प्रकाशविहीनाः अन्धकारिताः इत्यर्थः। **नाम**–अनर्थकः अव्ययः निश्चयार्थे वा। **लोकाः**–लोक् + घञ् अधिकरणे; लोक्यन्ते अनुभूयन्ते कर्मफलानि येषु ते लोकाः; वासस्थानानि, निकृष्टाः योनयः वा। **अन्धेन**–अन्ध + अच्; तृ० ए० व०; अज्ञानेन, अदर्शनात्मकेन। **तमसा**–तम् + असुन्; तृ० ए० व०; गहनान्धकारेण। **आवृताः**–आ + √वृ + क्त कर्मणि; प्र० ब० व०; आच्छादिताः। आत्मन् + √हन् + क्विप्; आत्मानं घ्नन्ति इति आत्महनः; आत्मनः ह्रासकर्तारः, आत्मनाभिज्ञाः काम्यकर्मपराः वा। **प्रेत्य**–प्र + √इण् + ल्यप्; मृत्वा उत्क्रम्य वा। **अभिगच्छन्ति**–अभि + √गम् + लट्; प्र० पु० ब० व०; प्राप्नुवन्ति।

प्रस्तुत मन्त्र में आठ अक्षरों वाले चार पद होने से अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त है। 'तमसा' पद में श्लेष द्वारा अज्ञान का आरोप होने से श्लेषमूलक रूपक अलङ्कार समाविष्ट है। मंत्र में प्रयुक्त पद 'आत्महन' के अभिधेयार्थ 'आत्मा का नाश' का बाध हो कर 'अज्ञानी' अर्थ ध्वनित होने से ध्वनि तत्त्व की सुन्दर प्रतीति है। किञ्चित् पाठान्तर से प्रस्तुत मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद् में उपलब्ध है–

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाँसोऽबुधो जनाः॥

बृहदारण्यक ४.४.११



आत्मतत्त्व का स्वरूप

शा०–यस्यात्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति, तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्तेऽनात्महनः तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते–

भाष्यानुवाद–जिस आत्मा का हनन करने से अज्ञानी जन जन्म-मरणरूप संसार में संसरण करते हैं उसके विपरीत ज्ञानी पुरुष, जो आत्माघाती नहीं हैं, मुक्त हो जाते हैं। तो वह आत्मतत्त्व कैसा है, उसे बताते हैं–

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

अन्वयः—अनेजत् एकं मनसः जवीयः पूर्वम् अर्षत्, एनत् देवाः न आप्नुवन्। तत् तिष्ठत् अन्यान् धावतः अत्येति, तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति।

शब्दार्थ—अनेजत्—निश्चल। एकम्—अद्वितीय। मनसः—अन्तःकरण की गति से। जवीयः—अत्यधिक वेगवान्। पूर्वम्—पहले। अर्षत्—व्याप्त। एनत्—इसको। देवाः—दिव्य स्वभाव वाली इन्द्रियाँ, देवता। आप्नुवन्—प्राप्त किया। तिष्ठत्—स्थित होता हुआ। अन्यान्—काल अथवा पञ्चतत्त्वों को। धावतः—दौड़ते हुए का। अत्येति—उल्लङ्घन करता है। तस्मिन्—उसमें। मातरिश्वा—वायु। अपः—जल वर्षण आदि कर्मों को। दधाति—धारण करता है।

अनुवाद—वह ब्रह्म अपने स्वरूप में कम्पनरहित अथवा अविचलित, अकेला अथवा अद्वितीय, मन से भी वेगवान्, पहले से वर्तमान तथा सर्वज्ञ है। इसको दिव्यगुण स्वभाव वाले इन्द्र देवता अथवा इन्द्रियाँ भी नहीं प्राप्त कर सकती हैं। वह स्थिर रहते हुए ही दूसरे दौड़ने वालों का अतिक्रमण कर देता है। उसके होने पर ही वायु आदि देवता जलवर्षण आदि क्रियाओं को धारण करते हैं।

The Brahman is the single one, who remains unvavoured and far more active than the thoughts. He is without beginning or end and is perfect in wisdom. The virtuous diety the Indra or the material senses cannot achieve him. The self while remaining unaffected supercedes all the fast moving beings. It is due to His existence, that the dieties like the wind have the capacity to absorb water and the power to perform the actions like causing rains etc.

संस्कृतभावार्थः—तद् ब्रह्म निश्चलं, एकमेवाद्वितीयं वा, चाञ्चल्यात् मनसापेक्षयापि वेगवत्तरं, अनादिः सर्वज्ञश्च वर्तते। देवाः अपि एतं सम्यग्रूपेण न अवगच्छन्ति, सन्दिहन्ति। निश्चलोऽपि चैतन्यस्वभावेन मनोवागिन्द्रियादीन् अतिक्रम्य धावति। अन्तरिक्षे गतिशीला वायुरग्निसूर्यादयः स्वस्वशक्तिमेतेनैव गृह्णन्ति।

शा०—अनेजदिति। अनेजत् न एजत्। एजृ कम्पने। कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः। तच्चैकं सर्वभूतेषु। मनसः सङ्कल्पादिलक्षणाज्जवीयो जववत्तरम्। कथं विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं

मनसो जवीय इति च। नैष दोषः। निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः। तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यतेऽनेजदेकमिति। मनसोऽन्तःकरणस्य सङ्कल्पविकल्पलक्षण-स्योपाधेरनुवर्तनादिह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं सङ्कल्पेन क्षणमात्राद् भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्। तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सति प्रथमप्राप्त इवाऽऽत्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह। नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्ये-तत्प्रकृतमात्मतत्त्वं नाऽऽप्नुवन्न प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनोजवीयो मनोव्यापारव्यवहितत्वात् आभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां विषयीभवति।

यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत्पूर्वमेव गतम्। व्योमवद् व्यापित्वात्। सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह–तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येत्यतीत्य गच्छतीव। इवार्थं स्वयमेव दर्शयति-तिष्ठदिति। स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः। तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा। अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि। अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणा-दिलक्षणानि दधाति विभजतीत्यर्थः। धारयतीति वा। भीषाऽस्माद्वातः पवत इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः॥ ४॥

भाष्यानुवाद–अनेजत् का अर्थ है गतिहीन, न चलने वाला। एजृ कम्पने धातु से अनेजत् पद निष्पन्न है। कम्पन का अर्थ है चलन। सर्वदा एकरूप होने से आत्मा कभी अपनी अवस्था से च्युत अर्थात् गति अथवा स्वरूपविकृत नहीं होता है। सभी प्राणियों में वह एकरूप अथवा विलक्षण है। मन के सङ्कल्पादि तीव्रगामी लक्षणों की अपेक्षा वेगवान् है। कुछ लोग यह परस्पर विरोधी बात कैसे कहते हैं कि आत्मा मन की अपेक्षा ध्रुव, निश्चल तथा गतिमान् है।

निरुपाधिक तथा सोपाधिक मत के उपलब्ध होने से इसमें कोई दोष नहीं है। आत्मा अपने निरुपाधिक रूप से अनेजत् अर्थात् अविचल कहा जाता है। मन अर्थात् सङ्कल्प-विकल्प लक्षणात्मिका उपाधि का अनुसरण करने से स्पष्ट है कि देह में स्थित मन का ब्रह्मलोक इत्यादि दूर के लोकों में सङ्कल्प के द्वारा क्षणमात्र में गमन सम्भव है। अतः मन की तीव्रगति लोक में प्रसिद्ध है। उस मन के ब्रह्मादि लोकों को शीघ्रता से जाने पर भी आत्मा की चेतनता का

अवभास पहले से रहता है। अतः उसे मन की अपेक्षा वेगवान् कहा गया है।

इस आत्मतत्त्व को देवता भी प्राप्त नहीं कर सके। **द्योतनात् देवाः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषयों का प्रकाशन करने के कारण इन्द्रियों को ही देव कहा गया है। ये इन्द्रियाँ प्रस्तुत आत्मतत्त्व को नहीं प्राप्त कर सकीं। उन इन्द्रियों की अपेक्षा तो मन ही वेगवान् है। आत्मा तथा इन्द्रियों के मध्य मनोव्यापार का व्यवधान होने से आत्मा का तो आभास मात्र भी इन्द्रियों का विषय नहीं बनता है।

तीव्रगामी मन की अपेक्षा भी पूर्वसिद्ध आकाश के समान व्यापक होने से सर्वव्यापी वह आत्मतत्त्व संसार के सभी धर्मों से परे है। अपने निरुपाधिक अर्थात् स्वाभाविक स्वरूप से विकारहित रह कर उपाधियुक्त संसार की सभी विकृतियों का अनुभव करता है। अविवेकियों अर्थात् मूढ़ बुद्धि पुरुषों को अनेक रूपों में, प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् अवभासित होता है, इसीलिए ऐसा कहा जाता है।

वह आत्मतत्त्व तीव्रधावन करने वाले आत्मव्यतिरिक्त अन्य विलक्षण तत्त्वों यथा मन–वाणी आदि इन्द्रियों का मानो अतिक्रमण कर जाता है। 'तिष्ठत्' पद का अभिप्राय है, स्वयं विकारहीन रह कर अस्तित्व बनाए रखना।

उस नित्यचैतन्य स्वभाव वाले आत्मतत्त्व के उपस्थित रहने पर जो मातरि अर्थात् वायु अन्तरिक्ष में श्वयति अर्थात् सञ्चरण करता है, वह मातरिश्वा वायु सभी प्राणियों का धारक तथा क्रियात्मक अर्थात् पालक तथा पोषक है, जिसके आश्रय में सभी शरीर एवं इन्द्रियाँ है, जिसमें ये सब ओत-प्रोत हैं तथा जो सूत्रसंज्ञक सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है वह मातरिश्वा है। अप अर्थात् कर्म अर्थात् प्राणियों के चेष्टा रूप लक्षणों अर्थात् अग्नि, सूर्य और मेघ आदि के ज्वलन, दहन, प्रकाशन, वर्षण आदि लक्षणों को धारण करता है अर्थात् पृथक्–पृथक् कर्मों को विभक्त करता है। अथवा *भीषाऽस्माद् वातः पवत* इत्यादि श्रुतियों के अनुसार धारण करता है। क्योंकि सभी कार्य-कारण आदि विकृतियाँ अर्थात् शरीर तथा इन्द्रियों आदि के विकार सभी के अधिष्ठान भूत नित्य चैतन्य आत्मतत्त्व के रहने पर ही होते हैं।

व्याख्या–अक्षरमव्यक्तं कूटस्थमचलं ध्रुवम्, गीता २-२३। आत्मतत्त्व निष्कम्प अर्थात् अविचलित स्वभाव वाला है। गति देश अथवा काल का परिवर्तन है। वह स्थिर तत्त्व गतिहीन है, कभी बदलता नहीं है, कदापि परिवर्तित नहीं होता है। जीवन में सब ओर परिवर्तन ही परिवर्तन परिलक्षित

होता है, जहाँ परिवर्तन है, वहाँ अस्थिरता है। बसन्त ऋतु में वृक्ष पत्ते-फूलों से लद जाते हैं किन्तु पतझर में वे सब झर जाते है, कुछ भी नहीं बचता है। इस ऋतु परिवर्तन में भी वृक्ष की जड़ें नहीं बदलती हैं, वैसी ही रहती हैं। आत्मतत्त्व जीवन की जड़ें है और जीवन है पत्ते फूल। हवा का एक झोंका जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है किन्तु आत्मतत्त्व को छू भी नहीं सकता है। परिवर्तन का समग्र चक्र इसी अपरिवर्तित, अविचलित केन्द्र के चारों ओर चलता है। विचार, वृत्तियाँ, वासनाएँ जीवन को रथ के पहिए के अरों की भाँति तेजी से घुमाती रहती हें, क्षण को भी कुछ नहीं ठहरता है। इस सबके परे गहराई में आत्मतत्त्व मात्र ही है जो स्थिर है। जीवन का समग्र प्रपञ्च इसी स्थिर तत्त्व की परिधि पर प्रवर्तित होता है–

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

गीता ९६

स्थिरता से ऋषि का अभिप्राय पूर्णता है, अगति नहीं; ठहरा हुआ भी नहीं, ठहरा हुआ तो तालाब के जल के भाँति सड़ने लगेगा। पूर्ण, जिसमें और अधिक का अवकाश नहीं है, और परिवर्तन का उपाय नहीं है। आत्मतत्त्व अपने इस रूप में एकमात्र विलक्षण तत्त्व है, उसके समकक्ष अन्य कोई तत्त्व नहीं है। वह एक सबमें अनुस्यूत है और जो नानात्व या बहुत्व दिखता है वह उसी एक का विवर्त, विलास अथवा विस्तार है।

श्रुति मन को सर्वातिशायी वेगवान् स्वीकार करती है–**यदजिरं जविष्ठम्**। व्यवहार में भी मन सर्वाधिक चञ्चल, प्रमथन स्वभाव वाला तथा शक्तिशाली प्रतीत होता है– **चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्,** गीता ६.३४। लोक में मन की जविष्ठता प्रसिद्ध है, वह निरन्तर गतिमान् मनस तत्त्व भी गतिहीन आत्मतत्व की अपेक्षा धीमी गति वाला सिद्ध होता है अर्थात् मन जिस तीव्र गति से दौड़ता है मन की पकड़ से परे देशकाल की सीमा लाँघकर आत्मतत्त्व पहले से ही, उससे कहीं आगे विद्यमान रहता है। **दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं** मन की तो वहाँ तक गति ही नहीं है। आत्मतत्त्व एकमात्र आदि अर्थात् सर्वप्रथम उपलब्ध विलक्षण तत्त्व है। अपने आदिगुण के कारण वह संसार के कण-कण में व्याप्त है–**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः**। मन से प्रेरित योगक्षेम की लालसा से आपूरित जन जहाँ-जहाँ पहुँचने का प्रयास करते हैं अथवा जिसकी उपलब्धि की इच्छा से संसार में आकुल-व्याकुल हो कर दौड़ते रहते हैं, आत्मा उन सारे लक्ष्यों को लाँघ चुका होता है **अर्थात्**

वहाँ पहले ही पहुँच चुका होता है। आत्मा मनोगत द्वन्द्वों का अतिक्रमण करने के कारण भी मन से जवीय है। श्रुति सोपाधिक तथा निरुपाधिक शब्दों से इस प्रकार के परस्पर विरोधी स्वभाव को आत्मा पर आरोपित करती है। निरुपाधिक शीर्षक के अन्तर्गत आत्मतत्त्व अविचल, एक तथा विकारों से रहित है। वही आत्मतत्त्व सोपाधिक रूप से अन्तःकरण के सङ्कल्प-विकल्पात्मक सामर्थ्य से सम्पन्न हो कर मन की अपेक्षा वेगशाली सिद्ध होता है। मन की सङ्कल्पात्मिका उपाधि अर्थात् विचार शक्ति से जीव क्षण भर में ही ब्रह्म लोक सदृश दूरस्थ देशों में पहुँच सकता है किन्तु आत्मतत्त्व का अवभास वहाँ मन से भी पहले वर्तमान रहता है। अतः श्रुति की मान्यता है–

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ कठ २.२१

द्योतयन्ति इति देवाः इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन्त्रस्थ देव शब्द ब्रह्माण्ड की चेतन तथा अचेतन अद्भुत शक्तियों का द्योतक है। परम चेतनावान् इन्द्र आदि देवता अथवा अपूर्वमेधासम्पन्न कपिल आदि ऋषि गण उसकी ही प्राप्ति के लिए प्रणव आदि के माध्यम से साधना करते देखे जाते हैं–**तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये,** ऋग्वेद १०.९०.९। अचेतन अर्थों में पञ्चभूतों की प्रतीकरूप इन्द्रियाँ अर्थात् शारीरिक देवता समग्र सांसारिक विषयों का प्रकाशन करने की सामर्थ्य से युक्त हो कर भी इस आत्मतत्त्व को अपना विषय नहीं बना पाती हैं क्योंकि अपने-अपने विषय के द्योतन मात्र में समर्थ इन्द्रियाँ उन वस्तुओं की अनुभूति का माध्यम नहीं बन पाती हैं जो इनके पार है। नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों की दर्शनादि क्रिया-कलापों में सामर्थ्य तत्तत इन्द्रियों के अधिष्ठाता सूर्याद देवों के कारण हैं किन्तु सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व स्थूल सूर्यादि की पहुँच से बाहर होने से स्थूलतम नेत्रादि इन्द्रियों की भी पहुँच से परे है, अतः इन का विषय नहीं हो सकता है। आत्मतत्त्व इन इन्द्रियों से पूर्व तथा इतने अधिक अन्तर् अर्थात् असीम गहराई में है, जहाँ इन्द्रियों की सामर्थ्य-गति समाप्त हो जाती है–**न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः**, केन १.३, यह एक प्रकार से मनुष्य के अहंकार का निरसन है। सर्वगत उस आत्मतत्त्व में समग्र विश्व समाहित है, वह विश्व का अधिष्ठान है, आधार है, प्रतिरूप है अतः वैश्विक पदार्थों से पहले उसकी अवस्थिति या सत्ता सिद्ध होना स्वाभाविक है, आश्चर्य नहीं। वस्तुतः इन्द्रियाँ जीवन का आवरण हैं; सार है आत्मतत्त्व जो सदा से अवस्थित रह कर इन्द्रियों की विलक्षणता को सञ्चालित करता रहता है अतः इन्द्रियों से उस आत्मतत्त्व की अनुभूति असम्भव है। ऋषि ने भी तो कहा है–

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥

ऋग्वेद १०.९०.२०

इन्द्रियों का कामी स्वभाव मन को भी अस्थिर कर देता है। मनस्तत्त्व का व्यवधान सीमित शक्ति इन्द्रियों को आत्मतत्त्व तक पहुँचने से विमुख कर देता है–**तदु नात्येति कश्चन,** कठ २.१९। मन एक सुदूर लक्ष्य निर्धारित कर, एक ब्याज कल्पित कर सदा आगे दौड़ता रहता है, सांस रहते श्रान्त नहीं होता है। इहलोक से तृप्त हुआ तो पर लोक की अतृप्ति में भटकने लगता है; इसीलिए भगवान बुद्ध को शून्यवाद का समर्थन करना पड़ा था अर्थात् कोई आत्मा नहीं है, कोई परमात्मा नहीं है अन्यथा संसार से ऊब कर व्यक्ति आत्मा-परमात्मा के सूत्र पकड़ कर मन के अश्वों को दौड़ने लगेगा। शून्य हो कर, इन्द्रियों और मन के आश्रय को छोड़ कर एक स्थान पर ठहर कर उस आत्मतत्त्व को पाया जा सकता है। जीवन की यह स्थिरता, शून्यता की यह स्थिति ही ध्यान है। ध्यान में समाहित चित्त वाला पूर्णता को उपलब्ध कर लेता है इसीलिए ऋषियों ने शून्य को पूर्ण वर्तुल में पारिभापित किया है। शून्य पूर्ण की प्रतिकृति है, एक पूर्ण वृत्त में कुछ जोड़ना अथवा घटाना असम्भव है। शून्य अथवा पूर्ण की भावदशा ही यात्रा का अन्तिम बिन्दु है, मोक्ष की उपलब्धि है। नेति-नेति कह कर ही उस परम आनन्दमयी चित्तावस्था को व्याख्यायित किया जा सकता है–

अस्थूलमनणवमह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाका-शमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमुखमात्रमन-न्तरमबाह्यं न तदश्नति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन।

बृहदारण्यक ३. ८. ८

वायुर्वा मातरिश्वा, केन ३.८; मातरिश्वा अर्थात् आकाश में विचरण करने वाला वायु जो स्वयं लघु तत्त्व है, अपने से अधिक भारयुक्त अपः अर्थात् जल इत्यादि का वहन कर लेता है, उसमें आत्मतत्त्व का ही श्रेय है क्योंकि वायु भी उसी से सामर्थ्य ग्रहण करता है। संसार का कोई भाग वायु विहीन नहीं है। अपः पद का एक और अर्थ है–क्रिया अथवा कर्म–आप्यन्ते प्राप्यन्ते सुखदुःखानि आभिरिति आपः ता एव अपः कर्माणि इत्यर्थः। जगद्व्यापी यह वायु उसी आत्मत्त्व के सहयोग से समग्र अपः अर्थात् कार्य करता है। एक कथा में वायु ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि पृथिवी पर जो कुछ है, मैं उसे उड़ा कर ले जा सकता हूँ केवल उस परमतत्त्व का साहाय्य अपेक्षित है–

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति॥ तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति। तस्मै तृणं निदधावेत्दादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥

केन ८.१०

आत्मतत्त्व से प्रेरित वायु, अग्नि, सूर्य, मेघ आदि के ज्वलन, दहन, तथा वर्षण रूप क्रियाओं को समुचित रूप में सम्पन्न करता है। वायु ही अनेक रूपों में विभिन्न तत्त्वों में विचरण करता हुआ जीवन रक्षण हेतु अनिवार्य कर्मों के सम्पादन में सहयोग देता है। **प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते,** अथर्ववेद ११.४.१५ में प्राण को मातरिश्वा कहा गया है। प्राण आत्मसापेक्ष हैं। आत्मा से शरीर प्राणवान् हैं और प्राणी क्रियावान्। इस प्रकार प्राणियों के प्राणधारण में सहायक बन कर वायु सृष्टि उपयोगी विधानों का सञ्चालन करता हुआ, व्यवस्था को सम्यक्-सुचारु बनाए रखने की भूमिका निर्वाह करता है। सृष्टि का प्रधान तत्त्व वायु उस आत्मतत्त्व की प्रेरणा से सञ्चालित होता ही है, अन्य तत्त्व भी उसी की गति से गतिमान हैं उसी के अनुशासन से अनुशासित हैं–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

कठ ५.१५

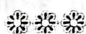
वस्तुतः वह गति देता है परन्तु स्वयं गति से अप्रभावित रहता है। इस लोक में काल की गति नापने के लिए सूर्य, चन्द्र, रात, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास वर्ण, ऋतुएँ आदि है परन्तु काल की गति के स्रष्टा की परिमाप तो असम्भव है। प्रलय के अनन्तर जगत् की उत्पत्ति के लिए वह शान्त और स्तब्ध प्रकृति में एक गति का सञ्चार करता है जिससे प्रकृति की निस्तब्धता भंग हो कर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति हो जाती है और सृष्टि रचना अस्तित्व में आ जाती है। इसी गति-शक्ति को विज्ञान ने ऊर्जा (Energy) कहा है तथा पञ्चभूत एवं प्रकृति की प्रेरक गति के संघात को Matter combined with energy कहा है। यहाँ एक शङ्का होती है कि गति के लिए गतिदाता से पृथक् आकाश (Space) होना चाहिए अन्यथा वह गति कैसे करेगा? तथ्य यह है कि ब्रह्म को गति सञ्चालित करने के लिए न तो स्वयं क्रियाशील होने की आवश्यकता है न ही क्रियाशीलता के लिए किसी उपादान कारण (Material cause) की आवश्यकता है, कारण वह एकदेशीय नहीं सर्वदेशीय, सार्वकालिक, सर्वव्याप्त है।

गति ब्रह्म के केवल ईक्षण मात्र से उत्पन्न होती है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने भी उपनिषद् के इसी विचार का समर्थन किया है।

God is merely the source of movement, the fist mover, who himself is never moved. The age of Aristotle, p. 46

विशेष–अनेजत्– √एजृ + लट् + शतृ, एजत्; न एजत् अनेजत् (नञ् तत्पुरुष); निश्चलं। **एकं**– अद्वितीयं; एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इति श्रुतिः। **मनसः**– मनस् + प० ए० व०; अन्तःकरणगत्या, विचारशक्त्यापेक्षया। **जवीयः**–जवितृ + ईयसुन; जवः अस्य अस्तीति जववत्; अत्यन्तं जववत् इति जवीयः; अतिशयेन जवितृ इति जवीयः; तीव्रवेगवान्। **पूर्वं**–प्रथमम्। **अर्षत्**–√ऋष् गत्यर्थे + शतृ; सर्वत्र अगमत्। **देवाः**–√दिव् + अच्; प्र० ब० व०; द्योतनाद् वा दीपनाद् वा द्युतिभवा वा देवाः; दिव्यशक्तिसम्पन्नेन्द्रियाः। **आप्नुवन्**–√आप् + लङ्; प्र० पु० ब० व०; स्वादि०; लब्धवान्। **तिष्ठत्**–√स्था (तिष्ठ्) + शतृ; अचलत्। **अन्यान्**–अपरान् पञ्चभूतकालादीन्। **धावतः**– √धाव् + शतृ; प० ए० व०; वेगेन चलतः। **अत्येति**– अति + √इण् + लट्; प्र० पु० ए० व०; उल्लङ्घयते। **मातरिश्वा**–मातरि + श्वि; मातरि अन्तरिक्षे श्वयति सञ्चरतीति। **वायुः**– अपःआप्यन्ते सुखदुःखानि याभिः ताः अपः; √आप् + क्विप्; धातोः ह्रस्वः जलादीनि कर्माणि वा।

प्रस्तुत मन्त्र एकादशाक्षरा वृत्ति और चार चरण युक्त होने के कारण त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध है। परमात्मा अथवा आत्मतत्त्व की क्रियाओं–अनेजत्–जवीयः; धावतः–तिष्ठत् आदि में परस्पर विरोध सा अवभासित होने के कारण मन्त्र में विरोधाभास अलंकार है। ऋषि की यह अभिव्यक्ति शब्द व अर्थ के समान गुम्फन से पाञ्चाली रीति को सूचित कर रही है। आत्मतत्त्व को द्योतित करने वाले पदों से धर्मिता वाच्य न हो कर व्यंग्य के माध्यम से अर्थ को कह रही है, अतः वस्तुव्यङ्ग्य ध्वनि है।



आत्मतत्त्व का पुनः कथन

शा०–न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह–

भाष्यानुवाद–मंत्रों को किसी प्रकार की उद्वेजना नहीं होती है, अतः पूर्व (चतुर्थ) मन्त्र को पुनः कह रहे हैं–

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५॥

अन्वयः—तत् एजति, तत् न एजति, तद् दूरे, तत् उ अन्तिके, तत् अस्य सर्वस्य अन्तः; तत् अस्य सर्वस्य उ बाह्यतः।

शब्दार्थ—तत्—वह आत्मतत्त्व। एजति—गतिशील। दूरे—इन्द्रियसीमा के बाहर। अन्तिके—भौतिक शरीर के पास। अन्तः—हृदय में। बाह्यतः—सांसारिक पदार्थों में।

अनुवाद—वह आत्मतत्त्व चलता है, वह नहीं चलता है। वह दूर है, वह समीप भी है। वह इस सबके अन्तर्गत है, वह ही इस सबके बाहर भी है।

The soul moves and moves not. It is far and likewise near. It is inside all of us as well as outside all of us.

संस्कृतभावार्थः—तद् आत्मतत्त्वं सर्वव्यापकं सर्वत्र गतिशीलं वर्तते परं तत् स्वस्थानात् लेशमात्रमपि न संसरति। अज्ञानिनां कृते तद् दूरे अतएव अप्रकाश्यमिव वर्तते परं ज्ञानिनां कृते हृदयसन्निकटे एव विभाति। तद् अस्य जगतः अन्तरे तदेव जगतः बाह्यप्रदेशेऽपि विद्यते।

शा०—तदेजतीति। तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः। किञ्च तद् दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद् दूर इव। तत् उ अन्तिक इति च्छेदः। तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य। य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवन्निर-तिशयसूक्ष्मत्वादन्तः। प्रज्ञानघन एवेति च शासनान्निरन्तरं च॥ ५॥

भाष्यानुवाद—वह आत्मतत्त्व, जो यहाँ विषयरूप है, चलता है और वही स्वयं नहीं चलता है अर्थात् स्वयं अचल रह कर भी चलायमान सा प्रतीत होता है। वह दूर है, दूर होने के कारण सैकड़ों करोड़ों वर्षों में भी अज्ञानी पुरुषों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। तद्वन्तिके पद का 'तत् उ अन्तिके' यह पदच्छेद है। वह अत्यन्त समीप अर्थात् विद्वानों का आत्मा होने के कारण दूर तथा समीप शब्दों से बोध्य है। वह इस सबके आभ्यन्तर में विद्यमान है। 'य आत्मा सर्वान्तर' इस प्रकार श्रुति भी कहती है। इस समग्र जगत् के नाम-रूप तथा क्रियाशील इस समग्र जगत् के बाहर आकाश की भाँति व्यापक तथा अत्यधिक सूक्ष्म होने से अन्तर् व्याप्त है। 'प्रज्ञानघन एव' बृहदारण्यकोपनिषद् ४.५.१३ अर्थात् आत्मतत्त्व प्रज्ञानघन ही है, इस कथन के अनुसार (बाहर-भीतर के भेद से परे) सर्वत्र है।

व्याख्या—ईशावास्य के ऋषि ने आत्मा की विलक्षणताएँ प्रस्तुत करते हुए

उसे एक ही काल में परस्पर विरोधी गुणों से संयोजित किया है। विरोधों की भाषा का प्रयोग करके, विरोधों के परे जो सच्चई है, उसका ज्ञान कराया है। लोक का यह नियम है कि दो भिन्न स्थितियों, दो पृथक् दशाओं को अभिव्यक्त करने के लिए विलोम पदों का प्रयोग किया जाता है; वे विलोम एक साथ एक ही पदार्थ के अभिव्यञ्जक नहीं होते हैं। संसार के अनुभवों से भी सिद्ध होता है कि अस्तित्ववान् एक ही वस्तु एक काल में दो स्थानों पर अथवा दो रूपों में अवस्थित नहीं हो सकती है। कारण, संसार की सभी वस्तुएँ सान्त हैं सीमित हैं, परिच्छिन्न है। आत्मतत्त्व सामान्य की भाषा से परे है। कबीर का एक दोहा प्रमाण है–

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ, तो गरि।
जैसा है वैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥

उपनिषद् का ऋषि लोक के सामान्य सिद्धान्त से परे जाकर इस अन्तिम रहस्य पर पहुँचा है कि जीवन के जितने भी सत्य सरल हैं वे उतने ही कठिन है। जो सत्य स्पष्ट से प्रतीत होते हैं वे गहनतम हैं। ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि समग्र ब्रह्माण्ड इसी प्रकार के विरोधाभासों से अवभासित है–जन्म लेने वाला मृत्यु को प्राप्त होता ही है, सर्जना का अवसान निश्चित होता ही है। कबीर ने कहा है–

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा घट घट घटहि समाना यह तथ गुनहुँ गयानी॥

वस्तुतः परम बुद्धिमान् ही सदैव परम अज्ञानी होने को प्रस्तुत रहता है अन्यथा ठहरे जल के समान उसका ज्ञान काईयुक्त, अनुपयोगी हो जाएगा। उसका ज्ञान-दर्प उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति को नष्ट कर देगा। अतः परम ज्ञानी स्वभावतः महामूढ़ता की बुद्धि से विनम्र बने रहते हैं। शोध की अन्तिम सीमा पर ऐसा विरोधाभास स्वाभाविक है।

विज्ञान के क्षेत्र में भी परमाणु के अन्तिम बिन्दु पर यही समस्या आ गई है। इलेक्ट्रॉन का आविष्कार होने पर वैज्ञानिक कठिनाई में पड़ गए कि उसे कण कहें अथवा तरङ्ग क्योंकि वह एक साथ ही कण अर्थात् स्थिर तथा तरङ्ग अर्थात् प्रवहमान का सा व्यवहार करता है। उस स्थिति में वैज्ञानिक इलेक्ट्रॉन में एक साथ दोनों गुण–कण तथा तरङ्ग स्वीकार करने को बाध्य हुए। इस द्विरूप इलेक्ट्रॉन को नाम दिया गया–क्वांटा। क्वांटा की खोज ने यह विज्ञानसिद्ध कर दिया कि दो विपरीत लक्षण एक साथ, एक तत्त्व में घटित हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

जीवन के अन्तिम सत्य से परिचित इस तथ्य से अवगत हैं कि जीवन के दो किनारे हैं– जन्म तथा मृत्यु। जन्म के लिए मृत्यु अनिवार्य प्रक्रिया है तथा मृत्यु के लिए जन्म। शरीर में प्रतिक्षण विनाश होता है, प्रतिक्षण नूतन निर्माण। इसी प्रकार संसार के समग्र तत्त्व अन्धकार और प्रकाश, गर्मी और शीत, दूर और पास, अन्तर् और बहिर्, लाभ और हानि, जय और पराजय आदि केवल कम तथा अधिक के अन्तर सूचक पद हैं। एक ही बिन्दु से दो दिशाओं में आनुपातिक अन्तर है।

आत्मतत्त्व सोपाधिक रूप में तीव्रगामी मन की अपेक्षा पूर्व विद्यमान है अतः अत्यधिक गतिशील कहा गया है। इसके विपरीत निरुपाधिक रूप में सर्वत्र व्यापक अतएव गतिहीन है। वस्तुतः उपाधिरूप शरीरादि का गमन होता है किन्तु देहस्थ होने से आत्मा चलता हुआ सा जान पड़ता है; जैसे सूर्य स्वतः चलायमान नहीं है किन्तु जल में सूर्य के हिलते प्रतिबिम्ब को देखकर सूर्य का हिलना अवभासित होता है। अथवा **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** के अनुसार अगतिक वह आत्मतत्त्व सूर्य, चन्द्र, वायु आदि के माध्यम से गति भी करता है। सर्वत्र व्यापक उस तत्त्व को गति करने की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए वह रञ्चमात्र भी नहीं चलता है तथापि संसार की समग्र गति, सब चलना उस पर ही निर्भर है। समग्र परिवर्तन उस अपरिवर्तित को केन्द्र मान कर ही घटित होता है। गीता का भी मत है–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता १८.६१

यात्रा के लिए चलन क्रिया का प्रारम्भ जन्म बिन्दु से होता है, यही बिन्दु जीवनयात्रा बन कर अनन्त-अनन्त जन्मों तक यात्रामय रहता है। एक सुदीर्घ भ्रमण क्रिया, जिससे आत्मतत्त्व ही मुक्ति दिला सकता है। आत्मा से प्रारम्भ प्रयाण परमात्मा में पर्यवसित हो जाता है, उसकी आन्तरिक गतियों का जागतिक गतियों में प्रकाशन हो जाता है–

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

तैत्तिरीय आरण्यक ५

अविद्यावान् मायाबन्धनबद्ध जीवों के लिए दुर्लभ होने के कारण वह उनसे अत्यन्त दूर है किन्तु विद्यावान् निष्काम कर्मयोगियों के लिए वैराग्य की प्रधानता के कारण अत्यधिक समीप-सुलभ है। भौतिक जीवन में आसक्त जन उसे जन्म-जन्मान्तर खोजते है? किन्तु वह अधिगत नहीं होता, अतः दूरस्थित

प्रतीत होता है। इसके विपरीत ज्ञानियों के हृदय में सदा वास करने के कारण वह अत्यन्त निकटस्थ है। वह तो अन्तरात्मा है, सबके भीतर; अज्ञानियों के लिए सबसे दूर, ज्ञानियों के लिए सबसे पास–

दिल के आईने में है, तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई, देख ली॥

साकार शरीर के अन्दर निराकार रूप में वह सदा विद्यमान है, उसके बिना प्राणी का अस्तित्व नहीं। समग्र चर तथा अचर पदार्थ भौतिक एवं अभौतिक वस्तुएँ उस परम तत्त्व की सत्ता से सत्तावान् हैं। निकट तथा दूर सभी में उसका आभास हैं। सभी उसकी ही शक्ति से शक्तिमान् हैं, जैसे लोहा चुम्बक से आकर्षित रहता है–

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लौहः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जुनो॥ महाभारत

अन्तर् तथा बहिः परस्पर विरुद्ध व्यवहृत स्थितियाँ है। जो अन्तःस्थ है वह बहिर्दर्शनीय नहीं होता, जो वस्तु बहिर्दर्शनीय होने के कारण सर्वदृश्य है उस वस्तु सामान्य का गोपन असम्भव है। घट-पट यदि कक्ष के भीतर अवस्थित हैं तो बाहर उनकी सत्ता नहीं हो सकती तथा जो वृक्षादि कक्ष के बाहर आरोपित है वे अन्दर उपलब्ध नहीं हो सकते हैं। परम तत्त्व विश्व से अतीत है, अन्तर् तथा बाह्य रूप उपाधियों से परे है। विश्वात्मा रूप में वह विश्व के अन्तः में अवस्थित है, कर्ता-धर्ता-हर्ता रूप में विश्व का नियामक बन कर बाह्य अवस्थित है–

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ गीता १३.१५

बहिर् तथा अन्तर में क्या विशाल भिन्नता है? कदापि नहीं, वह जो विरोध प्रतीत होता है, केवल अभिव्यक्ति का अन्तर है। घटाकाश तथा बहिराकाश एक ही है, केवल अज्ञान अथवा भ्रमवश उन से हम पृथक्-पृथक व्यवहार करते हैं। यह अवश्य है कि बहिराकाश से परिचित होने के लिए कक्ष के आकाश से पूर्व परिचय कर लेना होगा। विराट् को जानने के लिए स्वयं में समाहित सूक्ष्म को खोज लेना होगा। स्वयं को जान लेने वाला सृष्टि कणों के प्रत्येक रहस्य को सरलता से हृदयङ्गम करेगा। महाभारत ने कहा है–

न सद्रूपा नासद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

वास्तव में परमात्म तत्त्व वह मूलभूत तत्त्व है जो निरन्तर, स्वभावतः

गतिशील रहता है। प्रत्येक पदार्थ की वह गति सापेक्ष गति भी हो सकती है तथा काल की अबाध गति भी। वह गति सृष्टि रचना का बीज भी हो सकती है तथा विकास का मौलिक कारण भी। वह गति प्रत्येक पदार्थ या तत्त्व के केन्द्र में विद्यमान परमाणुओं की गति भी हो सकती है। अभिप्राय यह कि इस गति बिना सृष्टि, उत्पत्ति और विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। सृष्टि से पूर्व की अवस्था में सत् और असत् का विश्लेषण दुष्कर है। यदि यह कहा जाये कि उस समय असत् विद्यमान था तो उत्पत्ति काल में सृष्टि सत्ता में कैसे आई? और जब सृष्टि विकास की अवस्था मे थी ही नहीं तो सत् विद्यमान था, यह भी नहीं कहा जा सकता है। आभासित होता है कि सृष्टि अपने सृजनकर्ता रूप कारण में अस्तित्वमान् रहती है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त इस प्रसङ्ग में उद्धृत है जिसमें इस स्थिति का यथातथ्य वर्णन उपलब्ध है।

उस समय न असत् था न सत्, न रज (परमाणु) और न परम व्योम जो स्थूल जगत् का निवास स्थान है। जगत ही नहीं था तो न मृत्यु थी और न अमरत्व, दिन और रात्रि के कोई सङ्केत नहीं थे। यदि कोई सत्ता थी तो केवल एक बिना किसी आधार के अपने ही स्वभाव से वर्तमान थी, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था–

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥
तम आसीत्तमसा गूहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥

ऋग्वेद १०.१२९. १–३

विशेष–एजति– √ एज् + लट्; प्र० पु० ए० व०; चलति। उ– निश्चयार्थकः अव्ययः। **अस्य सर्वस्य**– जगतः अखिलस्य। **बाह्यतः**–बाह्य + तसिल्; बहिर्भागतः।

उपर्युक्त मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में चार चरण तथा अष्टाक्षरा वृत्ति से अनुस्यूत हैं। आत्मतत्त्व सम्बन्धी विरोधाभासी भावों की प्रस्तुति से कथन में आपाततः विरोध प्रतीत होने के कारण विरोधाभास अलङ्कार सहज है। अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार का सङ्केत भी दे रही है। समासरहित मधुर पदावली के प्रयोग से माधुर्य गुण मन्त्र के सौन्दर्य को व्यञ्जित कर रहा है।



अभेददर्शी पुरुष की उत्कृष्टभावना

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

अन्वयः—तु यः सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति च सर्वभूतेषु आत्मानं (पश्यति), ततः न विजुगुप्सते॥

शब्दार्थ—यः—जो मुमुक्षु। सर्वाणि—समग्र। भूतानि—चेतन-अचेतन पदार्थों को। आत्मनि—आत्मा में। एव—ही। अनुपश्यति—निरन्तर देखता है। सर्वभूतेषु—सम्पूर्ण चर-अचर जगत् में। आत्मानं—स्वयं को। ततः—उस (अभेददर्शन) के पश्चात्। विजुगुप्सते—घृणा करता है।

अनुवाद—परन्तु जो व्यक्ति समस्त प्राणियो को आत्मा में देखता है और समग्र प्राणियों में आत्मा (स्वयं) को देखता है, उस (अभेददर्शन की अनुभूति के अनन्तर) वह (किसी से) घृणा नहीं करता है।

But he who believes that all beings exist in God. the Super Self and himself (Ätman) in all the beings, never has hatred for any creature, as he becomes conscious of the presenee of self (Åtman).

संस्कृतभावार्थः—यः मुमुक्षुः जनः सकलानि चेतनाचेतनानि परमात्मनि साक्षात् पश्यति तथा च समस्तप्राणिषु आत्मज्योतिरूपं परमतत्त्वमनुभवति सः तत्त्वज्ञानी सर्वात्मदर्शनकारणात् द्वैतद्वेषभावनां परित्यज्य प्रीतिमधुरं व्यवहारमेव प्रदर्शयति।

शा०—यस्तु इति। यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः। सर्वभूतेषु च तेष्वेव चाऽऽत्मानं तेषामपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन यथाऽस्य देहस्य कार्यकारणसङ्घातस्याऽऽत्माऽहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवाऽऽत्मेति सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति। प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम् सर्वा हि घृणाऽऽत्मनोऽन्यद्दुष्टं पश्यतो भवत्यात्मान एवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव। ततो न विजुगुप्सत इति॥ ६॥

भाष्यानुवाद— जो परिव्राजक मुमुक्षु अव्यक्त आदि से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी भूतों को आत्मा में ही देखता है, आत्मा से पृथक् रूप में नहीं

देखता है। और उन सभी प्राणियों में आत्मा को देखता है, उन प्राणियों की आत्माओं को अपनी आत्मा मान कर व्यवहार करता है अर्थात् जिस प्रकार देह तथा इन्द्रियों के इस संयोग का आत्मा मैं हूँ, सभी प्रतीतियों का साक्षी स्वरूप हूँ, चेतयिता, केवल और निर्गुण हूँ, उसी प्रकार इसी स्वरुप से अव्यक्तादि से प्रारम्भ कर स्थावर पर्यन्त सभी भूतों का आत्मा भी मैं ही हूँ। इस प्रकार जो सभी प्राणियों में निर्विशेष आत्मा को देख लेता है वह उस आत्मदर्शन के कारण ही किसी से जुगुप्सा अर्थात् घृणा नहीं करता है।

यह प्राप्त अर्थ का ही अनुवाद है। सभी प्रकार के घृणाभाव अपने से पृथक् दुष्ट तत्त्व के देखने से होते हैं। जो साधक आत्मा के अत्यन्त विशुद्ध स्वरूप का निरन्तर दर्शन कर लेता है, उसकी दृष्टि में घृणा का प्रमुख निमित्त नहीं रह जाता है। यह अर्थ स्वयं प्राप्त है इसीलिए वह उसके पश्चात् किसी से घृणा नहीं करता है।

व्याख्या–अतति व्याप्नोति (सर्वम्) इति आत्मा, व्याप्य-व्यापक भाव से सर्वत्र विद्यमान आत्मा का यथार्थ स्वरूप लोक से अपूर्व दृष्टि रखने वाले को सहजतया भासित होता है। उसे यह अनुभूति हो जाती है कि मुझसे भिन्न कोई पदार्थ इस जगत् में नहीं है, मैं ही सर्वात्म, सर्वरूप हूँ, परम चेतन तत्त्व से लेकर तृणपर्यन्त मैं ही साकार हूँ और मैं ही निराकार। आवश्यकता है केवल आत्मरूप दर्शन के लिए सूक्ष्मदृष्टि की, स्थूल दृष्टि से तो उस तक पहुँचाना भी दुर्लभ है। अतएव ऋषि ने मन्त्र में अनुपश्यति पद का प्रयोग किया है। अनुपश्यति अर्थात्–अनुवीक्षण अर्थात् सूक्ष्मता से देखना। मुक्ति की कामना रखने वाला जो पुरुष समस्त प्राणियों को आत्मा में तथा आत्मा को समस्त प्राणियों में अनुवीक्षण द्वारा एक ही परम तत्त्व के अंशरूप में जान लेता है उस समदर्शी पुरुष के लिए संसार के समग्र चर-अचर पदार्थ एक समान अर्थात् आत्मतत्त्व का प्रतिबिम्ब मात्र हो जाते हैं–

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ गीता ५.१८

जीवन यात्रा में चराचर जगत् को ब्रह्म में तथा ब्रह्मतत्त्व को उन सम्पूर्ण भूतों में समाहित देख लेने वाला व्यक्ति दर्पणवत् निर्मल हो जाता है। संसार के समग्र चेतन-अचेतन जीव उसे दर्पण में बनने वाली छाया के समान अपनी ही छाया प्रतीत होते हैं, जो अपने लिए कल्याणकर है वही दूसरे के लिए उचित प्रतीत होता है, अचारण भी तदनुकूल विपरिणमित हो जाता है। महाभारत की उक्ति भी है–**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।**

मनुष्य की गहनतम प्रवृत्तियों में घृणा प्रथम है। घृणा का अर्थ है अपने से भिन्न के लिए उपेक्षापूर्ण विषभावना; स्वार्थसिद्धि में बाधक तत्त्व के विनाश की आकांक्षा घृणा का प्रतिरूप है। घृणा के कारण व्यक्ति सभी भूतों को स्वयं में नहीं देख पाता तथा स्वयं को सभी प्राणियों में नहीं देख पाता है। न तो समस्त भूत उसके लिए दर्पण बन पाते हैं कि वह समस्त भूतों के हृदयदर्पण में अपनी छवि देख सके और न ही वह अपने हृदय को दर्पण बना पाता है कि समग्र प्राणी उसके अन्तर् में प्रतिबिम्बित हो सकें। जो इन दोनों दशाओं को एक साथ पार कर जाता है उसके लिए जगत् दर्पण बन जाता है, वह स्वभावतः सब प्राणियों में स्वयं को ही पाता है तत्क्षण उस व्यक्ति की घृणारूप प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ गीता ६.२९

सर्वात्मभाव से सम्पन्न पुरुष चारित्रिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर स्वयं को दूसरे के लिए समर्पित करने को आतुर रहता है। **वसुधैव कुटुम्बकं** की विचारधारा तथा विश्वबन्धुत्व की मनोभावना शुद्ध मानस में दूषित विचार अङ्कुरित ही नहीं होने देती है। अतः घृणा आदि निकृष्ट मनोवृत्तियाँ स्वतः निष्क्रिय, निर्बल हो जाती हैं। संसार के चराचर पदार्थों में ब्रह्म की अवस्थिति से वे समग्र स्वरूप मन्दिर के समान प्रेम और श्रद्धा के देवालय बन जाते हैं तब घृणा के लिए अवकाश ही कहाँ रह जाता है। श्री कृष्ण स्वीकार करते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ गीता ६.३०

ईशावास्य का सूत्र कहता है कि घृणा का अन्त होता है। यह नहीं कहता है कि प्रेम उद्भूत होता है क्योंकि प्रेम शाश्वत सत्य है, चिरन्तन तथ्य है। प्रेम आत्मा का अपरिहार्य धर्म है, उसका न आदि है न अन्त। अतः उपनिषद् का ऋषि प्रेम की चर्चा नहीं करता अपितु वह घृणा का अन्त स्वीकार करता है। यह भी स्वाभाविक है कि घृणा के आवरण से आच्छादित प्रेम, आवरण हटते ही स्वतः प्रवाहित हो उठता है, आवश्यकता है केवल स्वयं को दर्पण बनाने की।

दर्पण का गुण है कि वह स्वच्छ होने पर स्वरूप का ठीक-ठीक आकलन करता है। आवश्यकता होती है उसे शुभ्र रखने की। यदि मनुष्य के

हृदय दर्पण से अहङ्कार की धूल हट जाए तो उसमें निर्मल जगत् प्रतिभासित हो उठता है। पवित्र हृदय को बहिर्जगत् भी पवित्र ही प्रतीत होता है, बहिर्जगत् उस क्षण व्यक्ति का ही प्रतिबिम्बन, आत्मछवि का ही प्रतिच्छायाङ्कन होता है। अतः संसार का सौन्दर्य अथवा असौन्दर्य आन्तरिक दृष्टि का ही प्रतिक्षेपण होता है। यदि हृदय सुन्दर है तो अपरूपता भी सुन्दर प्रतीत होती है, यदि हृदय तमोगुणी मनोवृत्तियों से कलुषित है तो सौन्दर्य भी कुरूप प्रतीत होता है।

अभेद दृष्टि की प्रवृत्ति का अभ्यास कर लेने वाला मानो आत्म–यजनकरता हैं, विश्वपूजा के लिए अपने को होम देता है। आहुति देने के बाद वह सबके साथ एक हो जाता है, आहुति देने के बाद वहीं वह रह जाता है–

जब हम थे तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहिं।
प्रेमगली अति सांकरी, तामे द्वै न समाहिं॥

अन्तःकरण में चैतन्य का अनुभव करने वाला सृष्टि के कण–कण में आत्मतत्त्व के दर्शन करेगा। यदि किसी को भौतिक जगत् में, परमात्मा की कार्यरूपा प्रकृति में ईश्वरीय अंश की अनुभूति नहीं होती तो उसका हृदय पत्थर है। उसके हृदयहीन संसार में प्रेम की धारा शुष्क है, आध्यात्मिकता की निर्झरिणी अवरुद्ध है । समुचित ही है कि हृदय को तपा कर, विवेक को संन्यस्त कर, घृणा को प्रेम में रूपान्तरित कर सर्वत्र आत्मतत्त्व से अनुप्राणित मानव परमात्मा का प्रतिरूप हो जाता है। वह एक सूत्र में पिरोयी मणियों के समान समग्र प्राणियो में एक ही आत्मा के दर्शन करता है–

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ गीता ७.७

विशेष–यः–अधिकारिपुरुषः। सर्वाणि–सकलानि। भूतानि– √भू + क्तः, द्वि० ब० व०; चेतनाचेतनानि। आत्मनि– √अत + मनिन्; स० ए० व०; स्वस्मिन्। अनुपश्यति–साक्षात्करोति अनुभवति वा। सर्वभूतेषु–व्यक्ताव्यक्तेषु पदार्थेषु। आत्मानं–परमात्मस्वरूपम्। ततः–अद्वैतबुद्ध्या, अभेददृष्टिकारणात्। न–नहि। विजुगुप्सते–गुप् + सन् स्वार्थे; प्र० पु० ए० व०; आत्मनेपद; 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे इत्यमरः'; घृणां करोति।

प्रस्तुत मन्त्र चार चरण वाली अष्टाक्षरा वृत्ति से अनुष्टुप छन्दोबद्ध है। एकमात्र आत्मतत्त्व की अनेकत्र उपस्थिति प्रदर्शन के कारण मन्त्र में विशेष

अलङ्कार का प्रयोग है। सरल तथा सुबोध पद व्यवस्था प्रसाद गुण को स्पष्ट करती है। प्रस्तुत मन्त्र के समानान्तर महर्षि मनु का कथन है–

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

मनुस्मृति १२.९१



सर्वात्मभाव का पुनः उल्लेख

शा०–इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह–

भाष्यानुवाद–इस अर्थ को दूसरा मन्त्र भी कहता है–

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोह कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

अन्वय–यस्मिन् विजानतः सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत् तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः कः मोहः कः शोकः?॥ ७॥

शब्दार्थ–यस्मिन्–जिस दशा में। विजानतः विशेष अर्थात् ब्रह्मज्ञ के। सर्वाणि–समस्त। भूतानि–प्राणी। आत्मा–ब्रह्मांश। अभूत्–हो गए। तत्र–उस क्षण में। एकत्वं–अद्वैतरूप परमात्मतत्त्व को। अनुपश्यतः–सूक्ष्मता से अनुभव कर लेने वाले के। मोहः–आसक्ति। शोकः–सांसारिक कष्ट।

अनुवाद–जिसमें विशेष ज्ञान सम्पन्न योगी के लिए सभी प्राणी आत्मा ही हो गए, उस अवस्था में एकत्व का अनुभव कर लेने वाले पुरुष के लिए कौन सा मोह और कौन सा शोक?

When an enlightened man realises that the self is existing in all beings, then in that state of feeling and thought what is Wordly attachment and what is sorrow for one.

संस्कृतभावार्थः–यस्याम् अवस्थायां योगिजनाय अव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि सर्वाणि पञ्चतत्त्वमयानि भूतानि आत्मनः यथार्थरूपदर्शनात् आत्मैव संवृत्त तस्मिन् काले ऐक्यमवगच्छतः पुरुषस्य मोहशोकादयः नावशिष्यन्ते, विनष्टाः भवन्ति इत्यर्थः।

शा०–यस्मिन् सर्वाणीति। यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूदात्मैव संवृतः परमार्थवस्तु विजानतस्तत्र

तस्मिन् काले तत्राऽऽत्मनि वा को मोहः कः शोकः? शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजमजानतो भवति न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः। को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासम्भवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति॥ ७॥

भाष्यानुवाद—पूर्वोक्त जिस अवस्था में वे सभी प्राणी परमार्थ रूप आत्मदर्शन के कारण आत्मरूप ही हो गये, परमात्मतत्त्व की अनुभूति कर लेने वाले उस क्षण में उस आत्मा में कैसा मोह और कैसा शोक? शोक और मोह तो कामना और कर्म के बीज अर्थात् मूलकारण को न जानने वालों को होते हैं, आकाश के समान विशुद्ध आत्मा की एकता देखने वालों को नहीं होते हैं। कौन सा मोह और कौन सा शोक? अविद्या के कार्यभूत शोक और मोह के आक्षेप से असम्भव को दिखाने से कारण सहित संसार का अत्यन्त ही उच्छेद प्रदर्शित हो रहा है।

व्याख्या—समग्र चेतन-अचेतन तत्त्व भौतिक जगत् के उपलक्षक हैं, भौतिक जगत् प्रकृति में समाविष्ट है और प्रकृति परमात्मा से समुद्भूत मायात्मक प्रपञ्च है। विद्याबुद्धि सम्पन्न आत्मज्ञ पुरुष के लिए यह अभिक्रम प्रत्यवाय से सम्पन्न है अर्थात् जीवों की समष्टि रूप संसार ईश्वर की कार्यरूपप्रकृति में समाहित हो जाता है एवं प्रकृति अपने निमित्तोपादान कारण परमात्मा में लीन हो जाती है। जो योगी पुरुष **जीवति इति जीवः** की व्याख्या वाले जीवों की अनित्यता को जान कर सत्य-नित्य-चिरन्तन सत् का आभास कर लेता है उसके लिए कैसा मोह और कैसा शोक?

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि, छान्दोग्य ६.८.७ आदि श्रुतिवाक्यों के मनन-चिन्तन के द्वारा जिस संयमी पुरुष ने जीवन की नश्वरता को ग्रहण कर लिया, ब्रह्म की नित्य सर्वत्र सत्ता को जान लिया, अविद्या से निवृत्त उस पुरुष को ज्ञान हो गया कि दृश्यमान कार्य अपने उपादान कारण से अन्वित होता ही है, उनमें भेदप्रतीति अज्ञानजन्य भ्रम है, वाणी का विकार है। मृत्तिका से निर्मित घट सदा मृत्तिकारूप ही होता है, सुवर्ण से रचित आभूषण सर्वदा सुवर्णरूप ही होता है, उनमें केवल नाम का, आकार का भेद है उसी प्रकार ब्रह्म से निःसृत जगत् में ब्रह्मत्व ही शाश्वत है—**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्,** छान्दोग्य ६.२.१।

वस्तुतः अज्ञानकल्पित मनबुद्धि आदि से अवच्छिन्न होने पर ही ब्रह्म जीव के रूप में सुखी-दुःखो, हर्ष-शोक आदि विकारों से अवच्छिन्न प्रतीत होता है, मूलतः वह ब्रह्म है इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः जीवात्मा तथा परमात्मा में सीमित तथा निस्सीम का अन्तर अज्ञानजन्य प्रतीति है—**आत्मत्वेन**

यदा सर्वं नेतरस्तत्र चाण्वपि, अपरोक्षानुभूति, ५३। यह समग्र दृश्य अथवा अदृश्य जगत् ब्रह्म का अनुवर्तन है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं, इस बुद्धि का आश्रय ले लेने वाला विवेकी व्यक्ति अज्ञान का पूर्णतः उच्छेदन कर अद्वैत की अनुभूति कर लेता है–**मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः,** माण्डूक्य कारिका १.१७।

एक सौभाग्यपूर्ण क्षण में यदि जीवात्मा द्रष्टा बन कर, बृहत् विश्व के कारणरूप कर्ता, प्रकाशस्वरूप पुरुष को देख लेता है यदि उसे यह ज्ञान हो जाता है कि सृष्टि के रूप में पञ्चतत्त्वों का ही विस्तार है, आत्मशक्ति ही सर्वत्र प्राणमान् है, उस स्थिति को प्राप्त विद्वान् पाप-पुण्य जन्य सुख-दु:ख से मुक्त हो कर शान्त चित्तवृत्ति वाला हो जाता है। उसकी क्रीड़ा का क्षेत्र प्रकृति नहीं, आत्मा हो जाता है, उसकी रति-आसक्ति भौतिक चाकचिक्यता में नहीं, आत्मस्वरूप में हो जाती है, तब वह अधिक कर्मण्य हो कर विद्वानों में प्रतिष्ठित होता है–

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥
प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥

मुण्डक ३.१.३-४

अभिप्राय यह है कि ब्रह्म ही आकाश से लेकर जीवपर्यन्त सभी नामों सभी रूपों, सभी रसों एवं सभी क्रियाओं को धारण करता है। यद्यपि यह धारण करना भी अभिव्यक्ति मात्र है जैसे भ्रमजन्य सर्प को धारण करना, तथापि यह सिद्ध है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं। श्रुति का भी कथन है–**इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानि इदं सर्वं यदयमात्मा,** बृहदारण्यक ४.५.७। जहाँ सब कुछ आत्मरूप से जान लिया गया, जहाँ सर्वत्र आत्मतत्त्व प्रतिबिम्बित हो गया, वहाँ अणु भर भी द्वैत अवशिष्ट नहीं रहता है। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि निर्विकल्पक समाधिस्थ चित्त की जिस अवस्था में पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मरूप में देखता है, उस अवस्था में जीव के शोक और मोह नष्ट हो जाते हैं क्योंकि भय दु:ख का प्रधान कारण है और भय सदा दूसरे से होता है–**द्वितीयाद्वै भयं भवति,** बृहदारण्यक १.४.२। आत्मा तो आनन्दरूप है, आत्मा से कैसा भय और कैसा शोक। मोह के कारण शोक होता है, मोह कारण है शोक कार्य है। मोह नहीं होगा तो शोक नहीं होगा। यही अमोह, अशोक स्थिति है अद्वैत की, परब्रह्म

के साक्षात्कार की। आनन्द की उस चरम परिणति में आवरणरूप मोहादि तथा विक्षेपरूप शोकादि दोष चित्त को दूषित नहीं कर पाते हैं। स्वामी रामतीर्थ ने गाया है–

उठा जो दिल से भरम का परदा तो उसके उठते ही फिर अहाहा।

दोनों के अभाव में अविद्या का समूल नाश हो जाने के कारण साधक जगत् के मिथ्यात्व और आत्मा के यथार्थत्व को देख लेता है तथा सुख-दुःखरूप द्वन्द्वों से मुक्त होकर क्रमशः जीवन्मुक्त तथा मोक्ष की आनन्दमयता का अधिकारी हो जाता है। ऐसे आत्मोन्मुख, आत्मतृप्त जीव के संसार बन्धन का स्वतः उच्छेदन हो जाता है। श्री कृष्ण की वाणी इस विषय में प्रमाण है–

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ गीता ३.१७

वैयक्तिक सुख में आनन्द की अनुभूति आनन्द की विकृति है। यह जो क्षुद्र अहं में घनीभूत आनन्द की विकृति है, यह जो क्षुद्र अहं में घनीभूत विकृत सुख के उपभोग की इच्छा है, यह व्यक्ति को नितान्त स्वार्थी बना आनन्द को विकृत कर देती है। अहं का परम रूप **अहं ब्रह्मास्मि** है यह व्यक्ति को **सोऽहम्** की उत्कृष्टतम ऊँचाई तक ले जाता है, तब सहज उच्छलित आनन्द के रूप में सबके साथ समरस होकर-**न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः** की भावना व्यक्ति को अद्वय की कोटि में स्थापित कर देती है।

मानव की मनोदशा के दो अनिवार्य अङ्ग हैं–मोह एवं शोक, ये परस्पर एक-दूसरे के सहयोगी हैं। दोनों ही अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध में परस्पर आबद्ध हैं। चित्त में मोह है तो मोह आहत होने पर शोक अवश्य होगा और यदि निर्मोही मन हो तो शोक का कोई कारण नहीं है। मोह की रेखा 'मैं' बिन्दु से घनीभूत हो कर परिचय की परिधि के विस्तार में विरल होती जाती है। हार्दिक अभिलाषा यही होती है कि परिचय की स्वकल्पित परिधि में, मोह की स्वनिर्मित सीमा में दुःख न हो, पीड़ा न हो और शोक भी न हो। मोह की सीमा यदि टूट जाए, मोह सीमा को पार कर यदि बिखरने लगे तो करुणा में विलीन हो जाए, तो मानवता का विस्तार हो जाए और जब मोह ही नहीं तो शोक भी नहीं। ईर्ष्या द्वेष विहीन वह हृदय निर्मल दर्पण हो गया–

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि ह्यात्मत्वेन विजानतः।
न वै तस्य भवेन्मोहो न च शोकोऽद्वितीयतः॥

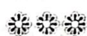
अपरोक्षानुभूति ५४

दर्पण हृदय की शून्यावस्था है। दर्पण हृदय मोह में किसी प्रतिबिम्ब को

पकड़ता नहीं है। दर्पण हृदय किसी प्रतिबिम्ब के शोक में टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखरता नहीं है। दर्पण हृदय शून्य भी आनन्दित है, पूर्ण भी क्योंकि अब तो वह परमात्मरूप शुभ्र ज्योति है–**अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, मुण्डक** ३.१.५।

विशेष–यस्मिन्–यस्यां दशायाम् अवस्थाविशेषे। **विजानतः**–वि + √ज्ञा + शतृ; ष० ए० व०; विशेषेण जानतः इति; ब्रह्मविदः योगिन : वा। **सर्वाणि**–सकलानि। **भूतानि**– √भू + क्त; प्र० ब० व०; चेतनाचेतनानि द्रव्याणि। **आत्मा**–√अत् + मनिन्; अतति व्याप्नोति सर्वम् इति; ब्रह्मांशः, **अभूत्**– √भू + लुङ्, प्र० पु० ए० व०; भ्वादि०; वर्तमानार्थे सम्भवन्ति। **तत्र**–तस्मिन् क्षणे। **एकत्वं**–अद्वैततत्त्वम्। **अनुपश्यतः**–अनु + √दृश् (पश्य) + शतृ; ष० ए० व०; अवगच्छतः साक्षात्कर्तुः वा। **मोहः**–√मुह + घञ्; आसक्तिः। **शोकः**–√शुच् + घञ्, अभावेन जातः कष्टः।

प्रस्तुत मन्त्र में आठ अक्षरों वाले चार पादों के होने से अनुष्टुप् छन्द है। एकत्वमनुपश्यतः रूप कारण मोह, शोक आदि कार्यों के विनाश का हेतु सिद्ध हो रहे हैं अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार स्पष्ट है। सरल तथा सुबोध अर्थ की प्रतीति कराने वाले पद धारण गुण से समन्वित हैं। समासरहित, माधुर्यवर्णयुक्त पदावली मन्त्र में वैदर्भी रीति को प्रकट कर रही है।



आत्मनिरूपण

शा०–योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः–

भाष्यानुवाद–उपर्युक्त मन्त्रों से जिस आत्मा का वर्णन किया गया है, वह अपने स्वरूप से किन लक्षणों वाला है, इस बात को यह मंत्र बताता है–

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

अन्वयः–सः पर्यगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरं शुद्धम् अपापविद्धम् कविः मनीषी परिभूः स्वयम्भूः शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्॥ ८॥

शब्दार्थ–सः–आत्मा। पर्यगात्–संसार में सर्वत्र गया हुआ, सर्वव्याप्त।

शुक्रं–शुद्ध अथवा दीप्त। अकायं–शरीर से रहित। अव्रणं–अक्षत। अस्नाविरं–नाड़ी संस्थान से रहित। शुद्धं–निर्मल अथवा पवित्र। अपापविद्धं–शुभ अशुभ कर्मों के सम्पर्क से शून्य। कविः–क्रान्तदर्शी अथवा मेधावी। मनीषी–मनोभावों का ज्ञाता। परिभूः–श्रेष्ठ स्वयंभू–स्वेच्छा से आविर्भूत होने वाला। शाश्वतीभ्यः –व्यवधानशून्य , निरन्तर। समाभ्यः–संवत्सर रूप प्रजापतियों को वर्षों से। याथातथ्यतः–योग्यतानुसार। अर्थान्– चराचरवस्तूनि। व्यदधात्–विभक्त किया है।

अनुवाद–वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध अथवा दीप्त, अशरीरी, अक्षत, शिराओं से रहित, निर्मल अथवा पवित्र, पापों से रहित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट तथा स्वयंसिद्ध है। उसी ने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए अथवा अनेक वर्षों से यथायोग्य रीति से पदार्थों अथवा कर्त्तव्यों का विभाजन किया है।

That Self (Atman) becomes all pervading, omnipresent, absolutely pure, enlightened, incorporal, sinless, wise and self sufficient. That is why God has made provision for all beings to utilies all things discreetly and to perform their duties in right earnestness.

संस्कृतभावार्थः–स आत्मा जगति सर्वं व्याप्य स्थितः सर्वव्यापकः इत्यर्थ, शुभ्रज्योतिस्वरूपः, लिङ्गदेहविरहितः, अक्षतः, सूक्ष्मशरीरेणापि विनिर्मुक्तः, निर्मलस्वभावसम्पन्नः, धर्माधर्मादिपुण्यपापवर्जितः, क्रान्तदर्शी सर्वद्रष्टा वा, मनसः नियन्ता नियामकः वा, श्रेष्ठ अद्वितीयः वा तथा च स्वयमेव भवति आत्मनैवोत्पद्यते वा। सः पुनः नित्यसिद्धप्रजाभ्यः नित्याभ्यः संवत्सरनामिकाभ्यः प्रजाभ्यः वा कर्त्तव्यपदार्थान् यथायथं विभज्य व्यदधत्।

शा०–स पर्यगादिति। स यथोक्त आत्मा पर्यगात् परि समन्तादगाद् गतवानाकाशवद्‌व्यापीत्यर्थः। शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः। अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणमक्षतम्। अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां। स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः। अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितम्। शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुल्लिङ्गत्वेन परिणेयानि स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुल्लिङ्गत्वेनोपसंहारात्। कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे' त्यादिश्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः। परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति

स्वयम्भूः। स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद् यथातथा भावो याथातथ्यं तस्माद् यथाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान् व्यदधाद्विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥ ८॥

भाष्यानुवाद–पूर्वोक्त लक्षणों वाला वह आत्मा पर्यगात् परि अर्थात् सब ओर, अगात् अर्थात् गया हुआ है अर्थात् आकाश के समान सर्वव्यापक है। शुक्रम् अर्थात् शुद्ध अर्थात् ज्योतिष्मान् अर्थात् दीप्तियुक्त है। अकायम् अर्थात् शरीररहित अर्थात् लिङ्ग से रहित है। अव्रणम् अर्थात् अक्षत है। अस्नाविरम् अर्थात् जिसमें शिराएँ न हों, उसे अस्नाविर कहते हैं। अव्रणम् और अस्नाविरम् इन दो विशेषणों से आत्मा के स्थूल शरीर का प्रतिषेध किया गया है। वह शुद्धम् अर्थात् निर्मल अर्थात् अविद्यारूपी मल से रहित है, इससे आत्मा के कारण शरीर का निषेध किया गया है। वह आत्मा धर्म-अधर्म रूपी पाप से रहित है।

शुक्रम् इत्यादि (नपुंसकलिङ्ग) वचनों को पुल्लिङ्ग में परिवर्तित कर लेना चाहिए। क्योंकि 'स पर्यगात्' इस पद से आरम्भ करके कविः 'मनीषी' आदि पदों के द्वारा पुल्लिङ्ग रूप से ही उपसंहार किया गया है। कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी अर्थात् सर्वद्रष्टा है। इससे अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा नहीं है–श्रुति (बृहदारण्यक ३.८.११) इस प्रकार कहती है। मनीषी अर्थात् मन का ईशन करने वाला अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर है। परिभूः अर्थात् सबके परि-ऊपर होता है अतः परिभूः है। स्वयंभूः अर्थात् स्वयं ही होता है अथवा जिनके ऊपर है और जो ऊपर है वह सब स्वयं ही है, इसलिए स्वयंभूः है।

उस नित्ययुक्त ईश्वर ने सर्वज्ञ होने के कारण यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार अर्थों अर्थात् कर्त्तव्यपदार्थों का याथातथ्य विधान किया अर्थात् यथायोग्य रीति से उनका विधान किया। यथा-तथा के भाव को याथातथ्य कहते हैं। (उसने) शाश्वत नित्य समाओं अर्थात् संवत्सर नामक प्रजापतियों को उनकी योग्यता के अनुरूप पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य बाँट दिये।

व्याख्या–आचार्य शङ्कर प्रस्तुत मंत्र में प्रयुक्त सभी पदों को आत्मा की विशिष्टताएँ मानते हैं। मन्त्र की प्रथम पंक्ति के सभी पद नपुंसकलिङ्ग में तथा द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त सभी पद पुल्लिङ्ग में है। आचार्य का निर्देश है कि शुक्रम् इत्यादि सभी नपुंसक लिङ्ग विशेषणों को छान्दस लिङ्ग व्यत्यय मान कर पुल्लिङ्ग में परिणमन कर लेना चाहिए। तब सभी पद एकरूप होकर परमात्मा के वाचक हो जाएंगे।

विशिष्टाद्वैती व्याख्याकार श्रीमद्वेदान्तदेशिक का मत है कि पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त शुक्रम् इत्यादि सभी विशेषण द्वितीयान्त और पुल्लिङ्ग में हैं तथा उत्तरार्द्ध के कविः, मनीषी इत्यादि विशेषण प्रथमान्त तथा पुल्लिङ्ग हैं। इस स्थिति में किसी एक पंक्ति के समस्त पदों को परमात्मा के विशेषण तथा अन्य पंक्ति के सभी पदों को अधिकारी के विशेष गुण मानना समुचित है।

व्याकरणशास्त्र के अन्तर्गत व्यवहार की सुविधा के लिए आत्मा तथा परमात्मा को पुल्लिङ्ग माना गया है यद्यपि दर्शनशास्त्र की दृष्टि से आत्मतत्त्व अलिङ्गी है लिङ्गसे परे, व्यवहार की सुविधा के लिए ही वह आत्मा अथवा परमात्मा इस नाम से युक्त होने पर भी अरूप अर्थात् निराकार है। योगदर्शन में उस ईश्वर को नाम से परे जान कर ओ३म् इस पवित्र पद से सम्बोधित किया गया है– **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तस्य वाचकः प्रणवः,** योगदर्शन १.२४.२७।

श्रुति का सः सर्वनाम परमात्मा का सूचक है। ईशावास्य के ऋषि आत्मा को पर्यगात् अर्थात् सर्वत्र गया हुआ अर्थात् आकाश के समान असीमित परिमाण वाला बताते हैं। याज्ञवल्क्य ऋषि का विचार है कि जो आकाश में रहता हुआ भी आकाश से अलग है, जिसे आकाश नहीं जानता परन्तु आकाश ही जिसका शरीर है जो आकाश के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, वही तेरा अन्यर्यामी आत्मा 'अमृत' है–

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरम्।
यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥

बृहदारण्यक ३.७.८

आकाश के समान सर्वव्यापी आत्मा ही उपास्य है किन्तु आकाश भी आत्मा का सम्पूर्ण प्रतिरूप नहीं, अंश मात्र है। राजा अश्वपति और औपमन्यव प्राचीनशाल सम्बन्धी एक आख्यान से यह स्पष्ट है–**औपमन्यव कं त्वमात्मात्मानमुपास्स इति। दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से,** छान्दोग्य ५.१२.१।

आत्मतत्त्व सदा शुद्ध पवित्र और निर्दोष है–**तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते,** कठ ५.८। शरीर के अशुद्ध होने पर भी सूर्य के प्रकाश की भाँति वह सदा शुद्ध ही रहता है। यह जो आत्मा की शुद्धि का उल्लेख किया गया, शरीर और आत्मा के तादात्म्य की निषेध दृष्टि से किया गया है। इस तादात्म्य के भ्रमवश आत्मा को शुद्ध-अशुद्ध कह दिया जाता है। अन्यथा न तो पुण्यात्मा शुद्ध है न पापात्मा। आत्मा इन सबसे परे अत्यधिक शुभ्र ज्योतिस्वरूप

है–**अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति,** बृहदारण्यक ४.३.४। स्वयंप्रकाश आत्मा देह, इन्द्रिय आदि को प्रकाश अर्थात् चैतन्यता देता है। देह और इन्द्रिय आदि आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण परप्रकाश्य अतएव जड़ हैं। एकमात्र आत्मतत्त्व ही परमचेतन तत्त्व है–

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।। गीता १३.३३

अशरीरं शरीरेषु आत्मा कर्मजन्य शरीर से रहित है। शरीर आकार से युक्त है, आत्मा आकार से परे है। साकार शरीर जन्म-मृत्यु को पार करता है किन्तु अशरीरी आत्मा को ये महाव्याधियाँ स्पर्श भी नहीं कर पाती है। जैसे कमल जल में रहते हुए भी जल से सर्वथा असम्पृक्त रहता है, जैसे पारा अपने पात्र के संसर्ग से सर्वथा मुक्त रहता है, उसी प्रकार निराकार आत्मा विकारों से सर्वथा विनिर्मुक्त रहता है। काया में स्थित होने पर भी वह काया में स्थित नहीं है, काया में स्थित होने पर भी उसका जन्म नहीं होता है, काया में स्थित होने पर भी वह भोगता नहीं है, काया में स्थित होने पर भी वह बँधा हुआ नहीं है–

कायस्थोऽपि न कायस्थः कायस्थोऽपि न जायते।
कायस्थोऽपि न भुञ्जानः कायस्थोऽपि न बध्यते।। उत्तरगीता

शास्त्रों में तीन प्रकार के शरीर वर्णित हैं–स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। रक्तमांसादि से निर्मित स्थूल शरीर मृत्यु के अनन्तर नष्ट हो जाता है। सूक्ष्म अथवा लिङ्गशरीर सत्रह अवयवों का योग है, वे हैं–पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। पुनर्जन्म के समय ये सत्रह अवयव आत्मा के साथ जुड़ जाते है तथा मृत्यु काल में पृथक् हो जाते है। समस्त प्रपञ्च का कारणरूप अज्ञान ही कारण शरीर है। आत्मा इन तीनों प्रकार के शरीरों से परे हैं। ऋषि ने अव्रणम् और अस्नाविरं कह कर आत्मा के स्थूल शरीर का तथा शुक्रं कह कर अज्ञान के कालुष्य से रहित कारण शरीर का निषेध किया है। नियम है कि निराकार तत्त्व में व्रणादि विकार प्रसक्त नहीं हो सकते हैं अतः आत्मा आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दोषों से परे होता है। शरीर के वात-पित्त-कफ आदि दोषों तथा मानसिक पापपुण्य आदि संस्कारों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है अतः सदा अक्षत रहता है। क्षय से रहित आत्मा बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक एक सा रहता है, वह न तो न्यून होता है न वृद्ध। शरीर के रोगी होने की स्थिति में दुःखविक्षुब्ध तथा स्वस्थ मन के हर्षविभोर होने पर आह्लादित नहीं होता है–

अविकार्योऽयमुच्यते। अविकारी आत्मा रोग, जरा, क्षुधा, बुभुक्षा आदि विकारों में सदा समान अनुगत होता है। दोष विक्रिया, परिवर्तन से रहित पदार्थ का क्षरण असाध्य है—**अविनाशी वाऽरेऽयमात्माऽनुछित्ति धर्मा।**

आत्मा को अस्नाविरम् अर्थात् नस, गाड़ी से रहित कह कर उसके अपवित्र स्थूल शरीर का निषेध किया गया है। पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर मांसमज्जा, रुधिर, अस्थि निर्मित तथा अपचयक्षयादि दोषो से युक्त होता है। मलमूत्रादि अनेक अपवित्र पदार्थों से दूषित तथा रोगों की विकृतियों से मलागार होता है। आन्तरिक अशुद्धियाँ स्नान एवं मार्जन आदि से भी निवृत्त नहीं हो पाती हैं। इसके विपरीत आत्मा ज्ञानरूप अतएव परमपवित्र है—**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते,** गीता ४.३८।

शुद्ध, परम पवित्र रूप में यह सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता बन कर जागतिक विषयों के प्रकाश में समर्थ है, अतः चिद्रूप प्रमाणित है। शुद्ध तथा अविक्रिय आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव होने से निर्मल है अतः ज्योतिसमन्वित सूर्य तथा तेजीद्दीप्त मानस में एक समान भास्वरमान् है—**स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः, तैत्तिरीय** २.८.१।

मुक्ति के मार्ग में पाप महान् बाधा है। जिनके कारण आत्मा मन-इन्द्रिय से संयुक्त हो कर बारम्बार भोक्ता बनता है। पुण्य भी पुनर्जन्म का कारण होने से पाप के समान बन्धनकारी माने गए हैं। आत्मा पाप और पुण्य, कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों से असम्बद्ध रह कर जन्म-मरण से अप्रभावित रहता है। श्रेष्ठ कार्य उसे पराकाष्ठा को नहीं प्राप्त कराते हैं तथा निकृष्ट कार्य उसे तुच्छ नहीं बना सकते हैं—**स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्।** समग्र कर्म यद्यपि उसी की शक्ति से मनुष्यों द्वारा सम्पादित होते हैं तथापि वह आत्मा उनके द्वारा किए गए कर्मों का भागी नहीं बनता है। अनादिसिद्ध अज्ञान के द्वारा जीवों का ज्ञान ढका होने के कारण जीव ईश्वर में कर्ता, कर्म और कर्मफल के सम्बन्ध की चर्चा करके मोहित होते हैं—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैवं सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ गीता ५.१५

कवि अर्थात् ऋषि अर्थात् दैवीय मेधा युक्त बुद्धि जो सर्वद्रष्टा बन कर, अतीत अनागत को लांघकर, आत्मज्योति से सत्य का साक्षात् करने की प्रतिभा से सम्पन्न हो। जो वस्तुओं के वास्तविक सदसद् रूप का रहस्य जान लेने की क्षमता से समन्वित हो। आत्मतव ही ऐसा विलक्षण तत्त्व है जो सत्-रज-तम की साम्यावस्था रूप प्रकृति के संसर्ग से रचित विकृति का भोक्ता भी प्रमाणित

होता है तथा जो अहं प्रतीति का आलम्बन बन कर दृश्य जगत् का द्रष्टा भी सिद्ध होता है। द्रष्टा और दृश्य में महान् अन्तर है। घट, देह आदि दृश्य हैं तथा द्रष्टा के विषय हैं, स्वरूप नहीं। द्रष्टा का स्वरूप तो अनिर्वचनीय है— **अहं द्रष्टृतया सिद्धो देहो दृश्यतया स्थितः**, अपरोक्षानुभूति ३२। सर्वद्रष्टा होने के कारण जगत् की प्रत्येक घटना का उसे पूर्व ज्ञान रहता है। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों ही काल उसके लिए वर्तमान काल हैं। वह तो समस्त कालों का आश्रय अर्थात् महाकाल है, अतः उससे अगोचर कुछ भी नहीं, वस्तुत यह कथन भी लोक दृष्टि से है क्योंकि भूत, भविष्य, वर्तमान सभी भेद उस परमतत्त्व में अध्यस्त हो जाते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ गीता ७.२६

मनीषी अर्थात् मनों का नियमन करने वाला—लोक में केवल आत्मा ही मनों का नियन्ता देखा जाता है क्योंकि सर्वज्ञ तथा चेतन होने के कारण वह सभी मनों को प्रेरित तथा निगृहीत करता है तथा अपने से पृथक् सम्पूर्ण भौतिक जगत् का नियमन करता है। मनीषी पद आत्मतत्त्व की चिन्तन शील, परिश्रमी मनोवृत्ति का द्योतक है यद्यपि सभी मनों का शासन करते हुए भी उसका अपना मन नहीं—**अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः**, मुण्डक २.१.२। तथापि विचारण शक्ति के अध्यारोप से उसे सर्वज्ञ कहा जाता है अर्थात् सब कुछ जानने वाला, जिसके लिए कुछ भी जानना शेष न हो, जिसके चिन्तन की परिधि निस्सीम हो—**यस्मिन् चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्**, शुक्ल यजुर्वेद ३४.६.५।

आत्मा सबका आधार, प्रकाशक, कारण होने के कारण परिभूः अर्थात् अत्यन्त पर है। सर्वोत्कृष्ट उस आत्मतत्त्व से परे कुछ भी नहीं, उससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं। अनन्त-अनन्त जीवनयात्राओं की वह अन्तिम सीमा है उस सीमा को प्राप्त कर लेने पर श्रान्तता का अवसान हो जाता है, आवागमन की व्यस्तता से विश्राम मिल जाता है—**सा काष्ठा सा परा गतिः**, कठ ३.११।

आत्मा अनिर्मित, असृष्ट, स्वयंभू तत्त्व है। वह कर्मों के अधीन हो कर जन्मने वाला तत्त्व नहीं, स्वेच्छा से आविर्भूत होने वाला तथ्य है—**आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय**, बृहदारण्यक १.४.१७। जीव प्रकृति के वश होकर अपने अपने कर्मानुसार अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेकर सुख-दुःख का भोग करता है। आत्मा का जन्म उस प्रकार का नहीं है, वह अपनी प्रकृति का स्वयं अधिष्ठाता हो कर अपनी ही योगमाया से दिव्य और स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण करता है। उसके समस्त जन्म और कर्म दिव्य होते हैं केवल संसार के कल्याण के लिए—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ गीता ४.६

स्वयंभू आत्मतत्त्व के अस्तित्व के लिए किसी उपादान कारण अथवा निमित कारण की आवश्यकता नहीं हैं ऐसा न मानने पर आपाततः अनन्त दोष आएगा अर्थात् एक बिन्दु पर आकर हमें निर्मिति का अन्त स्वीकार ही करना होगा—यह अन्तिम सोपान है चेतन आत्मतत्त्व। विज्ञान भी तत्त्वों की शृंखला में पीछे जाकर इस तथ्य से सहमत हो गया है कि केवल एक तत्त्व ऊर्जा असृजित, अयौगिक तत्त्व है। यह अयौगिक ऊर्जा एक है, दो तत्त्वों का मिश्रण नहीं अतः अनन्त-अनन्त काल तक उसके मिटने का कोई उपाय नहीं। स्वयंभू आत्मतत्त्व निर्माण से रहित है अतः अमृत है, शाश्वत है, कारण से परे है क्योंकि सभी कारण चिन्त्य हैं, विचार कोटि के हैं, सन्देहास्पद हैं, अनात्म हैं—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वनात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
श्वेताश्वतर १.२

सनातन काल से आत्मतत्त्व सभी प्राणियों के लिए उसके कर्मानुसार समग्र पदार्थों की यथायोग्य रचना तथा विभाग व्यवस्था में सक्षम है। अनेक वर्षों से वह संवत्सर नामक प्रजापतियों के मध्य कर्मों के फलों का समुचित विभाजन कर सबको सन्तुष्ट करता है—**यो वै संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः** अभिप्राय यह कि नित्यसिद्ध प्रजापति भी अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हैं, ब्रह्म द्वारा निर्दिष्ट कर्म ही उनके लिए करणीय हैं। एक महान् विधान के अन्तर्गत यह सारा ब्रह्माण्ड कार्य कर रहा है—सूर्य ठीक समय पर उदित हो रहा है, चन्द्रमा पक्षानुसार घट-बढ़ रहा है, पृथिवी अपनी धुरी पर घूम रही है, ऋतुएं यथासमय रूप बदल रही हैं, समुद्र में ज्वार-भाटे का क्रम चल रहा है। अतः आदि काल से वह समस्त प्राणियों के लिए चराचर पदार्थों की रचना तथा वितरण कर प्रकृति को अपने ऋत स्वभाव से सञ्चालित और व्यवस्थित करता है। एकमात्र आत्मतत्त्व जागरूक है, निर्माता है, शुक्र है, ब्रह्म है, अमृत है, लोकों का आश्रय है, सर्वोत्कृष्ट है, अमृत है—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वैतत्॥
कठ ५.५.८

विशेष–सः–परमात्मा। **पर्यगात्**–परि समन्तात् अगात् गतवान्; परि + √इण् + लुङ् (गादेशः) प्र० पु० ए० व०; संसारे सर्वस्थः। **शुक्रं**–√शुच्; प्र० ए० व०; प्रदीप्तरूपं शुक्लं वा। **अकायं**–नास्ति काया यस्य तत्; सूक्ष्मस्थूलकारणशरीरविरहितम्। **अव्रणं**–नास्ति व्रणः यस्य तत् अक्षतम्। **अस्नाविरं**–न सन्ति स्नावाः यस्मिन् तत्; इरच् प्रत्ययः; नाडीसंस्थानेन हीनम्। **शुद्धं**–निर्मलं पवित्रं वा। **अपापविद्धं**–न पापैः विद्धं; शुभाशुभकर्मसम्पर्कशून्यम्। **कविः**– √कव् (वर्णने) + इन्; क्रान्तदर्शी मेधावी वा, त्रिकालज्ञः **मनीषी**–मनसः ईषा मनीषा, शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्, मनीषा + इनि; मनीषा अस्ति अस्य इति मनीषीः मनोनियामकः। **परिभूः**–परिभवति इति; परि + √भू + क्विप्; सर्वोत्कृष्टः **स्वयंभूः**–स्वयं भवति इति, स्वयं + √भू + क्विप्; विनैव कारणं स्वोद्भूतः। **शाश्वतीभ्यः**–व्यवधानशून्येभ्यः। **समाभ्यः**–संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यः वर्षेभ्यः वा 'तादर्थ्ये चतुर्थी'। **याथातथ्यतः**–यथातथाभावो याथातथ्यं; यथातथा + ष्यञ्; तेनेति यथातथ्यतः; याथातथ्य + तस्; यथायोग्यकर्मफलानुसारतः। **अर्थान्**–चराचरपदार्थान्। **व्यदधात्**–वि + √धा + लङ् ; जुहोत्यादिगणीयधातुः विभज्यते।

प्रस्तुत मन्त्र द्वादश अक्षरों वाले चार पादों से जगती छन्दोबद्ध है। एकाधिक वर्णों की अनेक बार आवृति होने से वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार समाहित है। मन्त्र में कठोर वर्णों का समावेश ओज गुण का सूचक है। ओज गुण के साम्य से गौडी रीति स्वतः समाविष्ट है।



ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का समुच्चय

शा०–अत्राऽऽद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः। 'ईशावास्यमिदं सर्वं मा गृधः कस्यस्विद्धनमि' त्यज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठासम्भवे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेदि'ति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः। अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः 'सोऽकामयत जाया मे स्यादि' त्यादिना। अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जायेत्यादिवचनात्। अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते। तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनाऽऽत्म-स्वरूपावस्थानं जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन चाऽऽत्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्ये-नाऽऽत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इत्यादिना। ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त

इत्यादिनाऽविद्वन्निदाद्वारेणाऽऽत्मनो याथात्म्यं स पर्यगादित्येतदन्तैर्मन्त्रैरूपदिष्टम्। ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति। तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि अत्याश्रमिभ्य: परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टमित्यादि विभज्योक्तम्। ये तु कर्मिण: कर्मनिष्ठा: कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते–

भाष्यानुवाद–ईशावास्योपनिषद् में प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यमिदं सर्वं...... मा गृध: कस्यस्विद्धनम्', इस प्रथम मंत्र द्वारा सभी एषणाओं के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा का वर्णन किया गया है, यह वेद का प्रथम अर्थ है। अज्ञानी तथा जीने की इच्छा रखने वालों के लिए ज्ञाननिष्ठा सम्भव न होने पर 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि........जिजीविषेत्' इत्यादि मन्त्र से कर्मनिष्ठा कही है, यह दूसरा वेदार्थ है।

इन मन्त्रों द्वारा प्रदर्शित इन दोनों निष्ठाओं का विभाग बृहदारण्यकोपनिषद् में भी दिखाया गया है। उसने कामना की कि मेरे पत्नी हो (बृह० उप० १.४.१७) इस श्रुति से सिद्ध है कि कर्म अज्ञानी तथा सकाम पुरुषों के लिए हैं। मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है (बृह० उप० १.४.१७) इत्यादि वचन से भी कर्मनिष्ठा का अज्ञानी और सकाम होना तो निश्चित रूप से जाना जाता है। और उसी का फल सप्तान्न[१] सर्ग है। उनमें आत्मभावना करने से आत्मा की (अनात्मरूप) स्थिति है।

आत्मज्ञानियों के लिए तो वहाँ, जिन हमको यह आत्मलोक को प्राप्त करना है, वे हम प्रजा को लेकर क्या करेंगे (बृह० उप० ४. ४. २२) इत्यादि वाक्य से जायादि[२] तीन एषणाओं के त्यागपूर्वक कर्मनिष्ठा के विरुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर रहना ही दिखाया गया है। जो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी हैं उन्हें ही 'असुर्या नाम ते लोका' आदि से लेकर 'स पर्यगात्' इत्यादि तक के मन्त्रों से अज्ञानी की निन्दा के द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप का उपदेश दिया है। इस आत्मनिष्ठा में उन्हीं का अधिकार है, सकाम पुरुषों का नहीं। इसी प्रकार श्वेताश्वतर मन्त्रोपनिषद् में भी ऋषि समूह से भली भाँति सेवित इस पवित्र आत्मज्ञान का उत्तम (संन्यास) आश्रम वालों को उपदेश दिया, (श्वे० उप० ६.२१) इत्यादि से इसका पृथक् उपदेश किया है।

---

१. ब्रीहि यव आदि—मनुष्य के अन्न। हुत, प्रहुत—देवताओं के अन्न। मन, वाणी और प्राण्म आत्मा के अन्न। दुग्ध, प्रदुग्ध—पशुओं के अन्न। इन सात प्रकार के अन्नों की सृष्टि कर्म का ही फल है।

२. यहाँ जाया शब्द पुत्र अर्थ को उपलक्षित करता है अत: जायादि एषणात्रय से पुत्रैषणा, लोकैषणा, वितैषणा ग्रहण करनाचाहिए।

जो कर्मनिष्ठ कर्मठ जन कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहते हैं, उनके लिए यह कहा जाता है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः॥ ९॥

अन्वयः—ये अविद्याम् उपासते (ते) अन्धं तमः प्रविशन्ति। ये विद्यायां रताः ते ततः उ भूयः इव तमः (प्रविशन्ति)।

शब्दार्थ—ये—जो मनुष्य। अविद्यां—भौतिकज्ञानम्। उपासते—अनुष्ठान करते हैं। अन्धं—घोर। तमः—अन्धकार। प्रविशन्ति—प्रवेश करते हैं। विद्यायाम्—आत्मज्ञान में। रताः—आसक्त हैं। ततः—उससे भी। भूयः—अधिक।

अनुवाद—जो मनुष्य अविद्या अर्थात् कर्म की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में ही रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते है।

All who worship ignorance which is not real knowledge (good work) are miserable and enter into utter darkness, those who delight in real knowledge are far more miserable and enter into greater darkness.

संस्कृतभावार्थः—ये मानवाः ज्ञानमुपेक्ष्य अविद्यां कर्मानुष्ठानमाध्यमेन सेव्यन्ते ते अज्ञानस्वरूपं गहनान्धकारं प्राप्नुवन्ति, पुनः पुनः इहलोके संसरन्ति परं ये जनाः कर्माणि तिरस्कृत्य विद्यायां देवोपासनायां रमन्ते ते जनाः तु निश्चयेन अधिकतमे अन्धकारगर्ते पतन्ति, निम्नयोनिषु जन्म गृह्णन्ति।

शा०—अन्धं तम इत्यादि। कथं पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वेषामित्युच्यते—अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति यदात्मैकत्वविज्ञानं तत्र केनचित् कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति। इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते। यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं तत्कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानं विद्यया देवलोक इति पृथक्फलश्रवणात्। तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैवैकैकस्य पृथक्फलश्रवणात्। विद्यया तदारोहन्ति। विद्यया देवलोकः। न तत्र दक्षिणा यन्ति। कर्मणा पितृलोक इति। नहि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्त्तव्यतामियात्? तत्रान्धं तमोऽदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के येऽविद्यां विद्याया अन्याऽविद्या तां कर्मेत्यर्थः। कर्मणो विद्याविरोधित्वात्।

तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धात्मकात् तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति। के? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रता अभिरताः। तत्रावान्तर फलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह। अन्यथा फलवदफलवतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादित्यर्थः॥ ९॥

भाष्यानुवाद—यह कैसे ज्ञात होता है कि (यह विधि कर्मनिष्ठों के ही लिए है) सबके लिए नहीं।

तो बताते हैं कि—निष्काम पुरुषों के लिए जो 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि..... एकत्वमनुपश्यतः' इस मन्त्र के द्वारा आत्मा के एकत्व का ज्ञान प्रतिपादित किया गया है, उसे विवेकी पुरुष किसी कर्म अथवा अन्य ज्ञान के साथ मिलाना नहीं चाहेगा। यहाँ तो समुच्चय की इच्छा से ही अविद्वान् आदि की निन्दा की जा रही है। अतः न्याय अथवा शास्त्र के अनुसार जिसका जिसके साथ समुच्चय हो सकता है, वही यहाँ कहागया है। जो देवता विषयक वित्त अर्थात् देवता समबन्धी ज्ञानसम्पत्ति का उल्लेख हुआ है, वह कर्म सम्बन्धी रूप से उपन्यस्त है, परमात्मज्ञान नहीं है। क्योंकि विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है यह उसका पृथक् फल सुना गया है। उन ज्ञान और कर्म में से यहाँ एक-एक के अनुष्ठान की निन्दा की है, वह समुच्चय की इच्छा से है, निन्दा के अभिप्राय से नहीं। विद्या (देवताज्ञान)के द्वारा उस पद पर आरूढ़ होते हैं, विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है (बृह० उप० १.५.१६) वहाँ दक्षिणमार्ग से जाने वाले नहीं पहुँचते, कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है, इत्यादि एक-एक श्रुति का पृथक् फल सुना जाता है। और शास्त्रनिर्दिष्ट कुछ भी अकर्त्तव्य नहीं हो सकता है।

उनमें वे तो अज्ञानरूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं, कौन? जो अविद्या अर्थात् विद्या से अन्य अविद्या अर्थात् कर्म अर्थात् केवल अग्निहोत्रादि रूप अविद्या की ही उपासना करते हैं अर्थात् तत्पर हो कर कर्म का ही अनुष्ठान करते रहते हैं क्योंकि कर्म विद्या अर्थात् आत्मज्ञान के विरोधी हैं (अतः वे अविद्या कहे गए हैं)। उस अन्धकार से भी कहीं अधिक गहन अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, कौन? जो कर्म करना छोड़कर केवल विद्या अर्थात् देवताज्ञान में ही अनुरक्त हैं। विद्या और कर्म के अवान्तरफल भेद को ही इसके समुच्चय का कारण कहा गया है, नहीं तो समीप स्थित फलवान् और फलहीन परस्पर अङ्ग तथा अङ्गी हो जाएँगे (अर्थात् फलयुक्त तो अङ्गी अर्थात् मुख्य और फलहीन अङ्ग अर्थात् गौण समझा जाएगा) यही अभिप्राय है।

व्याख्या–द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते, मुण्डक १.१.५। भारतीय दर्शन में अविद्या के द्विविध अर्थ किये जाते हैं। पारिभाषिक तथा यौगिक। पारिभाषिक दृष्टि से अविद्या का अर्थ है सांसारिक बुद्धि अथवा मिथ्या ज्ञान।

यौगिक दृष्टि से अविद्या की अर्थ निष्पत्ति है–विद्या से भिन्न अर्थात् जो विद्या अर्थात् आत्मज्ञान नहीं है। आचार्य शङ्कर के भाष्य से भी स्पष्ट है कि विद्या का अर्थ है देवता ज्ञान तथा उससे भिन्न अग्निहोत्रादि लक्षणकर्मों का अनुष्ठान अविद्या है।

अविद्या अर्थात् सांसारिक बुद्धि अथवा विद्याभिन्न अर्थात् अज्ञान की उपासना करने वाले जो अभिमानी वेदवादरत पण्डित हैं जो फल की इच्छा से केवल भौतिकता के संग्राहक सकाम कर्मों का चिन्तन करते हैं, वे सांसारिक बुद्धि कर्मों के परिणामस्वरूप पुनर्जन्मरूप अज्ञानान्धकार को प्राप्त होते हैं, वे मानव जीवन के अन्तिम परम लक्ष्य मोक्ष को न पा कर जन्म-मृत्यु रूप प्रवाह में प्रवहमान रहते हैं। सामान्यतः यह देखा भी जाता है कि पृथ्वी पर मानव रूप में जन्म लेने वाले अधिकतम प्राणी आराध्य परमात्मा के नाम, रूप, गुण, कर्म, स्वभाव से परिचय अथवा सम्बन्ध की आकांक्षा न करते हुए केवल सकाम भाव से कर्मों के सम्पादन में संलग्न रहते हैं, तत्-तत् कर्मों के अनुष्ठान से लौकिक एवं पारलौकिक फलप्राप्ति की गणना में ही सम्पूर्ण आयु व्यर्थ व्यतीत कर देते हैं–**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति,** गीता ३.१६। वे इस वास्तविक ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं कि संसार चक्र के अनिवार्य धर्म आवागमन से मुक्ति ही मानव जीवन का परम ध्येय है। वे संसार के क्षणिक सुखों को ही जीवन के स्थाई सुख मान कर भौतिकता के 'योगक्षेम' अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त के रक्षण में उत्कृष्टतम मानवयोनि को निरर्थक कर देते हैं। वे अविद्याग्रस्त अज्ञानी जन वर्तमान जन्म में तो अदर्शनात्मक अज्ञानरूप विविध तापों से सन्त्रस्त रहते ही हैं, आगामी अनन्त जन्मों में भी अन्धकारित लोकों में अवतरण करते हुए विविध यन्त्रणाओं का भोग करते हैं। ज्ञान के प्रकाश से रहित इन लोकों को ही सम्भवतः नर्क की संज्ञा दी गई है। यम नचिकेता को ऐसे ही लोकों से सावधान करते हैं–

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ कठ २.५

वे लोग जो अविद्या में वर्तमान हैं यज्ञ अर्थात् कर्म में ही विश्वास करते हैं वे स्वयं तो अनेकों अनेक जन्मों तक भटकेंगे ही, अपना अनुसरण करने वाले को भी (अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे के समान) नष्ट कर देंगे। ऐसा ही कटाक्ष कर्मवादियों ने ज्ञानमार्गियों पर किया है–

पाठकाः पठितारश्च ये चान्ये शास्त्राचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खाः यः क्रियावान् स पण्डितः॥

ईशावास्योपनिषद् का ऋषि दोनों विधाओं का समाहार करते हुए कहता है कि शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों को वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार स्वधर्म मान कर सम्पादित करने वाले पुरुष का जन्म सार्थक है। ऐसे सदाचारी पुरुष देश-काल के अनुरूप दायित्वों का निर्वाह करते हुए, आसक्ति और कामना का त्याग करके, योगी के समान, केवल कर्त्तव्यकर्मों के आचरण में निरन्तर संलग्न रहते हैं, स्वकृत कर्मों के पुण्यरूप शुभ फल से संयुक्त हो कर अग्रिम जन्मों में धन, यश, वैभव के भागी होते हैं। इसके विपरीत स्वार्थसिद्धि परायण जन इन्द्रियों की तृप्ति के लिए अपने कर्त्तव्य को भूल कर विषय वासनाओं में निरन्तर आसक्त होकर अन्यायपूर्वक धन और ऐश्वर्य के संग्रह में रत रह कर जन्म-जन्मान्तर को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं उनकी यह दुर्गति ही अन्धतामिस्त्र लोकों की प्राप्ति है–

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

कठ २.६

श्रुति के उत्तरार्ध में कहा गया है कि वे मनुष्य जो केवल विद्या अर्थात् अध्यात्म चिन्तन में ही निरन्तर लीन रहते हैं मात्र देवताज्ञान को जीवन की उपलब्धि मानते हैं, कर्तापन के अभिमान से अभिमत्त हो कर कर्मानुष्ठान करते हैं अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अनुष्ठेय विवेक, वैराग्य आदि ज्ञान के प्राथमिक साधनों का परित्याग करते हैं, स्ववर्ण तथा आश्रमधर्म के लिए विहित कर्मों का त्याग करके केवल सैद्धान्तिक ज्ञानमार्ग का अवलम्बन लेते हैं, केवल शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करके मिथ्याहंकार का प्रदर्शन करते हैं उनमें आत्मज्ञान के उदय की सम्भावना समाप्त हो जाती है। वे दम्भी पुरुष भ्रमवश, मेरे लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, इस प्रकार निश्चय करके कर्त्तव्य कर्मों का त्याग कर के स्वदायित्वों के निर्वाह से पराङ्मुख हो जातें हैं। वे स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति से कर्म करने के अधिकारी हो कर भी पलायनवादी आचरण अर्थात् संन्यास को स्वीकार कर लेते हैं फलस्वरूप प्रत्यवाय रूप दोष अर्थात् प्रतिकूल फल से युक्त होते हैं। वे मलिनमन, निकृष्ट पुरुष खिन्न मन से

इन्द्रियों के वश होकर समाज के प्रतिकूल आचार का अनुगमन करने लगते हैं। परमात्मा में अश्रद्धायुक्त वे जन, विषयासक्त मनुष्यों की अपेक्षा अधिकतम निकृष्ट योनियों यथा रौरव, कुम्भीपाक आदि घोर नर्कलोकों को प्राप्त करते हैं–

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ गीता १६.२०

यह स्पष्ट और निश्चित है कि अविद्यावान् अज्ञानी अन्धकार में भटकते हैं किन्तु विद्या सम्पन्न ज्ञानी तो महान्धकार में भटक जाते हैं। केवल अविद्या उपलब्ध करने से तो दुर्गति होती है किन्तु केवल विद्या हस्तगत करने से तो महादुर्गति होती है। तो फिर भटकने से छूटने का उपाय कहाँ बचा? सत्य है, अज्ञानी नचिकेता की भाँति जिज्ञासु, दर्पहीन, विनम्र, संयमी होता है, वह बालक की भाँति त्रुटियों के परिमार्जन को सदा तत्पर रहता है। उपनिषद् के ऋषि का विचार है–

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ केन २.३

जो पुरुष यह मान गया है कि वह उसे नहीं जान सका उसने उसे जान लिया है, जिसने यह मान लिया कि वह उसे जान गया है, उसने उसे नहीं जाना। पाश्चात्य दार्शनिक **सुकरात** भी कहा करते थे–**मैं इतना ही जानता हूँ कि मैंने कुछ नहीं जाना।** अतः अज्ञानी पुरुष ज्ञान के लिए सदा लालायित रहता है किन्तु विद्याभिमानी पुरुष **'ज्ञान-लव दुर्विदग्ध'** होता है, वह अपनी सीमित विद्या को ही ज्ञान की अन्तिम सीमा मान कर एक लघु परिधि में सिमटा रहता है, यह अहंकार बोध महान्धकार में ले जाता है। ऐसे अहंकार विदग्ध पुरुषों को शब्द कण्ठस्थ हैं सत्य का ज्ञान नहीं; शास्त्रों का अभ्यास है, सिद्धान्तों का पता नहीं; अहंकारी वे हाथ में ज्ञानदीप लेकर भी मतिभ्रम में आँखें बन्द कर जीवनपथ खोज रहे हैं। अतः आवश्यक है अज्ञान के प्रति सचेत रह कर ज्ञान के जगत् में प्रवेश–

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय।
जो खुद देखा आपना मुझसा बुरा न कोय॥ कबीर

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन के अनुसार अविद्या की परिभाषा की है– **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या,** साधनपाद २.५। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से वस्तुस्थिति का सामान्य ज्ञान हो जाने पर विपर्ययवृत्ति नहीं रहती, तो भी अविद्या का नाश नहीं होता इससे सिद्ध है कि चित्त की रागात्मिका अनुभूति का नाम अविद्या है। इस अविद्या के ही

कारण सर्वथा निर्विकार असङ्ग चेतन पुरुष का जड़ प्रकृति के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। अत: अनादिसिद्ध अज्ञान का नाम अवद्यिा है–**तस्य हेतुरविद्या,** साधनपाद २.२४।

एक शंका स्वाभाविक है कि अविद्या अर्थात् अज्ञान ज्ञान नहीं है तो क्या है? ध्यान देने पर उत्तर मन्त्र में ही प्राप्त है–इन मन्त्रों का देवता आत्मा है, आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म हैं। मानव शरीर की संरचना में भी दो तत्त्वों का प्रमुख योगदान है–ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ। आत्मसम्बन्धी ज्ञान गुणों को ज्ञानेन्द्रियाँ और संसार सम्बन्धी कर्मगुणों को कर्मेन्द्रियाँ सम्पन्न करती हैं अतएव विद्या ज्ञान की सूचक है तथा ज्ञानभिन्न अवद्यिा कर्म की सूचक। मन्त्र का ध्वन्यार्थ है कि केवल ज्ञान अथवा केवल कर्म का सेवन आपातत: अन्धकार से आवृत्त कर देता है। कर्म यद्यपि मुक्ति तक नहीं ले जाते हैं तथापि वे उच्चतम ज्ञान की सिद्धि में उपयोगी होते हैं। एकाङ्गी पक्ष जीवन को असन्तुलित कर देता है, सिद्धान्तत: ज्ञान और कर्म दोनों का अनुष्ठान जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्षों को सबल करता है। अत: ज्ञान का सञ्चय करके उसे कार्यरूप में, व्यवहाररूप में परिणत करना चाहिए। शास्त्र का भी मत है कि धर्म सम्पादन के लिए अभ्युदय (कर्ममार्ग) तथा नि:श्रेयस् (ज्ञानमार्ग) दोनों की अनिवार्यता है। अभ्युदय को प्राप्त व्यक्ति स्वत: नि:श्रेयस् की ओर उन्मुख हो सकता है, संसार से उद्वेजित हो स्वत: परम अनुभूति के लिए अग्रसर हो सकता है। तुलसीदास श्रेयस् की साधना से विरत हो जीवन के अन्तिम क्षणों में पश्चात्ताप कर रहे हैं जीवन को सुखी बनाने वाली वस्तुओं के संग्रह में ही सारा समय व्यर्थ गंवा दिया, वास्तविक सुख की ओर तो ध्यान ही नहीं दिया–

डासत ही गई बीत निशा सब।
कबहूँ न नाथ नींद भर सोयो॥

कार्यकाल में अप्रयुक्त विद्या निष्फल है किन्तु सामान्य रूप से क्रियान्वित कर्म फलदायी होगा ही अत: वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है–**आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिद:,** ऋग्वेद १.८९.१।

एक शङ्का पुन: उद्भूत होती है कि विद्या और अविद्या का अर्थ क्रमश: देवताज्ञान तथा कर्म लेने पर दोनों का ही फल कम या अधिक अन्धकार ही कहा गया है, अन्य कुछ भी नहीं, अन्तर केवल इतना है कि अग्निहोत्रादि लक्षण कर्म से अन्धकार प्राप्त होगा और देवताज्ञान से कुछ अधिक अन्धकार प्राप्त होगा। क्या विद्या से भी अन्धकार मिलेगा–यह तो श्रुतिविरुद्ध है। लोक प्रसिद्धि है कि विद्या से आत्मसाक्षात्कार होता है, अमृतत्व मिलता है,

अन्धकार नहीं। तब सम्भव है कि 'भूय इव तमः' का वह अर्थ न हो जो सामान्यतः ग्रहण किया जा रहा है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अधोपंक्ति में 'अन्धं' पद नहीं है। इस दृष्टि से मन्त्रार्थ होगा जो विद्या अर्थात् आत्मविद्या में लीन रहते हैं, वे सभी बन्धनों से मुक्त हो कर अधिक गूढ़तम अर्थात् सृष्टिपूर्व प्रलयदशा में स्थित उस निर्गुण ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी सृष्टि रचना से पूर्व सब कुछ तम से आच्छादित कहा गया है। उस समय सदसद् विलक्षण एकाकी वह तत्त्व अपनी प्राणशक्ति से बिना वायु के साँस ले रहा था–**तम आसीत्तमसा गूहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्,** ऋग्वेद १०.१२९.३।

निष्कर्ष यह कि मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए ऐकान्तिक कर्म अथवा अधिकाधिक ज्ञानमार्ग का अनुष्ठान अनुचित है, निष्फल है। कुमारिल का मत है कि जैसे पक्षी आकाश में एक पंख से नहीं उड़ सकता है, सन्तुलन के लिए दोनों पंखों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मनुष्य को अनन्तलोक में उड़ने के लिए ज्ञान की अनुभूति और कर्म का अनुष्ठान दोनों का समन्वयन करना चाहिए। श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि मानव मात्र को मुक्ति कर्मों के आचारण से ही मिलती है, कर्मों के त्याग से नहीं। अतः कर्मबन्धन से मुक्त होने का उपाय मोक्षप्राप्ति का साधन, कर्त्तव्यकर्मों का परित्याग नहीं अपितु निष्काम भाव से उनका सम्यक् अनुष्ठान है–

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ गीता ३.४

विशेष–ये–जनाः। **अविद्या**– √विद् + क्यप् + टाप्; विदन्ति अनया; द्वि० ए० व०; न विद्यां ज्ञानभिन्नम् अग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म। **उपासते**–उप + √आस् + लट् कर्मणि; प्र० पु० ए० व०; आसज्यते। **अन्धं तमः**–अदर्शनात्मकम् अज्ञानं संसारबन्धनम्। **प्रविशन्ति**–प्र + √विश + लट्; प्र० पु० ब० व०; प्राप्नुवन्ति। **विद्यायां**–देवताज्ञानोपासनायाम्। **रताः**–√रम् + क्त; प्र० ब० व०; अनुरक्ताः। **ततः**–तत् + तसिल्; कर्मानुष्ठानापेक्षया। **भूयः**–बहु + ईयसुन् (भू आदेश) ; अधिकम्। **इव**–एवार्थे। **तमः**–अज्ञानान्धकारः।

उपर्युक्त मन्त्र अनुष्टुप् छन्द के अष्टाक्षरात्मक चार चरण वाले ज्ञान और कर्म के समुच्चय का फल लक्षणों से समन्वित है। विद्या और अविद्या की उपासनाएँ क्रमशः अन्धकार तथा गहन अन्धकार में प्रवेश का हेतु सिद्ध हो रही हैं अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार अभिव्यक्त है। सवर्णों की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार की सूचिका है। विद्या और अविद्या को

आत्मप्राप्ति के लिए अनिवार्य स्वीकार किए जाने से अभिव्यञ्जना द्वारा स्पष्ट है कि वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य होने के कारण अभिधामूलक आर्थी व्यञ्जना मन्त्र में समाहित है। प्रस्तुत मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ४. १० में भी पठित है।



ज्ञान और कर्म के समुच्चय का फल

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १०॥

अन्वय:—विद्यया अन्यत् एव आहु:, अविद्यया अन्यत् आहु:। इति धीराणां शुश्रुम, ये न: तत् विचचक्षिरे॥ १०॥

शब्दार्थ—विद्यया—देवताज्ञान अथवा देवोपासना से। अन्यत्—दूसरा अर्थात् स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति। आहु:—बताते हैं। अविद्यया—कर्म से। अन्यत्—पृथक् अर्थात् पितृलोकों की प्राप्ति। धीराणां—बुद्धिमानों का। शुश्रुम—सुने हैं। तत्—ज्ञान तथा कर्म। विचचक्षिरे—व्याख्या की थी।

अनुवाद—विद्या (देवताज्ञान) से अन्य ही फल बताते हैं। अविद्या (कर्म) से दूसरा ही फल बताते हैं। इस प्रकार धीर पुरुषों को हमने सुना है जिन्होंने हमें उस विषय की व्याख्या करके समझाया था।

Rsis (Saints), the wise men assure us by explaining the subject that Vidya, the real knowledge produces one result and Avidya, not knowledge presents another result.

संस्कृतभावार्थ:—ब्रह्मतत्त्ववेत्तार: विषयं व्याख्यायन् अस्मान् प्रति कृपापूर्वकम् उपदिष्टवन्त: यत् ज्ञानोपासनाया: फलं भिन्नस्वभावं भवति, कर्मण: फलं पृथग्स्वरूपं भवति।

शा०—अन्यदेवेत्यादि। अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति विद्यया देवलोको विद्यया तदारोहन्तीति श्रुते:। अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते कर्मणा पितृलोक इति श्रुते:। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। य आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च्र विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेपामयमागम: पारम्पर्यागत इत्यर्थ:॥ १०॥

भाष्यानुवाद—विद्या से देवलोक प्राप्त होता है, विद्या से उस पर आरूढ़ होते हैं बृह० उप० १.५.१६ इस प्रकार श्रुतियों के अनुसार वेदवेत्ता लोग कहते हैं कि विद्या से दूसरे ही फल की प्राप्ति होती है। कर्म से पितृलोक की प्राप्ति

होती है, बृह० उप० १.५.१६। इस श्रुति के अनुसार अविद्या अर्थात् कर्म से अन्य ही फल मिलता है। हमने धीर अर्थात् बुद्धिमानों के ऐसे वचन सुने हैं जिन आचार्यों ने हमसे उस कर्म तथा ज्ञान का व्याख्यान किया था, उनका यह परम्परा से प्राप्त आगम है।

व्याख्या–कवि भर्तृहरि का नीतिश्लोक है–

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्।
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥ नीतिशतकम् ८

जब मैं अज्ञानी था, तब मतवाले हाथी के समान मदान्ध हो गया था: मैं सर्वज्ञ हूँ, इस प्रकार मेरा मन गर्वीला हो गया था किन्तु जब विद्वानों के संसर्ग से कुछ ज्ञान होने लगा तब मैं मूर्ख हूँ, यह समझ कर मेरा ज्वरमद उतर गया।

अविद्या अर्थात् अज्ञानबोध तथा विद्या अर्थात् ज्ञानाभिमान के परित्याग से सम्पृक्त साधक द्विविध पृथक्-पृथक् फल का अधिकारी होता है। 'विद्यया देवलोकः' तथा 'कर्मणा पितृलोक': इत्यादि श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं। विद्या और अविद्या के व्याख्याकार आचार्य इस प्रकार का उपदेश करते हैं कि जो अज्ञ जीव यज्ञादि के आयोजन-अनुष्ठान आदि कर्मकाण्ड के मध्य जीवन यापन करते हैं वे स्वर्गरूप भिन्न फल के अधिकारी होते हैं– **स्वर्गकामो यजेत्,** पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली स्वर्गीय सुख-सुविधाओं का भोग कर एक निश्चित अविध के पश्चात् पुनः पृथिवी पर लौट कर जन्म मृत्यु रूप चक्र से ग्रस्त होते हैं। अतः स्वर्ग सत्-चित्-आनन्द की अनुभूति का सार्वकालिक अथवा अन्तिम आधार नहीं है। वह केवल चिन्ताओं, अवसादों और कष्टों से पृथिवी की अपेक्षा किञ्चित् दीर्घकालिक मुक्ति है। श्रीकृष्ण का भी विचार है कि व्यक्ति पुण्यों के प्रभाव से स्वर्गलोक में जाते हैं, पुण्य क्षीण होने से मृत्युलोक में पुनः आ जाते हैं–**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति,** गीता ९.२१।

विद्या अर्थात् स्थाई सुख अर्थात् चिरन्तन आनन्द की उपलब्धि हेतु आकुल मुमुक्षु पुरुष अल्पसुख देने वाले कर्मों से विरक्त होते हुए चित्त की चञ्चलता को संयमित कर लेता है। अज्ञान के कारण मनुष्य प्रकृति के नाना रूपों को देखता और भोगता रहता है किन्तु इनके दर्शन से विरक्त हो कर अपने स्वरूप का दर्शन करते ही समग्र अज्ञान का अभाव हो जाता है। प्रकृति तथा उसके कार्य–बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ और शरीर–इन सबके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने से आत्मा इन से सर्वथा असङ्ग हो जाता है। पुरुष

और प्रकृति के स्वरूप की पृथकता रूप विवेकज्ञान के आधिक्य से संसार के बीज—अविद्यादि क्लेशों और कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है। अन्तत: चित्त अपने आश्रयरूप—महत्तत्व आदि के सहित प्रकृति के स्वाभाविक परिणाम—क्रम से विमुख होकर अपने कारण परब्रह्म में विलीन हो जाता है। लयत्व की उस मूर्धन्य अवस्था में न भोग्य अवशिष्ट रहता है न भोक्ता, न जीवन बचता है न जीव, सब कुछ द्रष्टा हो जाता है। तल्लीनता के इस सत्यं-शिवं-सुन्दरं रूप की वर्णना में ऋषि ने कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

मुण्डक ३.१.१

ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग के सिद्धान्त परस्पर पर्याप्त भिन्न हैं—नित्य, अविनाशी सुख की प्राप्ति के लिए ज्ञान मार्ग और सांसारिक ऐश्वर्य की अधिकृति के लिए कर्म मार्ग का निर्धारण किया गया है। ज्ञानमार्ग को स्वीकार कर लेने वाला पुरुष इन्द्रियों की अन्तर्मुखी वृत्ति से जीवन के सामान्य-असामान्य दु:खों से मुक्त हो कर परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होता है। कर्ममार्ग अज्ञान अर्थात् सङ्कीर्ण भावना और स्वार्थी मनोवृत्ति से दूषित है, इसे अपना कर मानव अस्थाई, अपूर्ण और अवास्तविक सुख की प्राप्ति में जीवन नष्ट कर देता है। प्रवृति और निवृत्ति के इस भेद को पुष्ट करते हुए आचार्य शङ्कर ने भी कहा है कि अद्वैत आत्मविद्या कर्म के साथ सम्भव नहीं। कर्मों का विधान केवल अविद्यादि दोषयुक्त जनों के लिए ही किया जाता है, अद्वैतविद्या के ज्ञान से सम्पन्न जनों के लिए नहीं—**न कर्मसहभावि अद्वैतात्मदर्शनम्.......अविद्यादि दोषवतः एव कर्माणि विधीयन्ते नाद्वैतज्ञानवतः।**

मनुष्य का जीवन अन्ध-पङ्गु न्याय से चलता है। कर्मेन्द्रियाँ अन्धी हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ लंगड़ी हैं। ज्ञानेन्द्रियों से हम बाह्य रूप-रस-गन्ध शब्द-स्पर्शादि रूप जगत् का अन्तर से रसास्वादन करते हैं। इन विषयों के ज्ञान के अनुरूप हमारा अन्त:करण कर्मन्द्रियों को प्रेरित करता है। कर्मेन्द्रियाँ स्वयं जड़ हैं, विवेक रहित हैं, विवेक रहित कर्म अन्धतम लोकों की प्राप्ति कराता है अत: ज्ञान और कर्म के समाहार से लौकिक और पारमार्थिक दोनों लोकों की उपलब्धि के द्वार खुलते हैं।

उपनिषद् के ऋषि ने प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्ध लक्षणों वाले दो मार्गों के विधान से जीवनयापन की विधि बताई है। श्रुतिवचन है—**कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां सन्ति।** अर्थात्

शुभ यज्ञकर्मों से पितृलोक तथा विद्या अर्थात् देवताज्ञान से देवलाकों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार निः श्रेयस् की प्राप्ति कराने वाली विद्या परा विद्या है, इसके अन्तर्गत मानव सदा–सर्वदा के लिए दुःखों से मुक्ति पाकर नित्य एवं आनन्दरूप ब्रह्म में समाहित चित्त वाला हो जाता है। अहंकाररहित कर्मो का सम्पादन एवं भोग साधनों में पूर्ण विरक्ति की सिद्धि, श्रेय की उपलब्धि कराती है। इसके विपरीत अपरा अर्थात् अविद्या स्त्री, पुत्र, धन, भवन, यश आदि इहलोक और परलोक की प्राकृत सुख–सामग्रियों की प्राप्ति द्वारा प्रेयमार्ग पर गमन में सहयोग प्रदान करती है–**दूरमते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता,** कठ २.४।

ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि उपनिषद् अभिप्रेत अविद्या, पदार्थ विद्या अर्थात् विज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है और विद्या का अर्थ है ऐसा ज्ञान जो रूपान्तरित कर दे, स्वयं से परिचित करा जीवन शैली को ही परिवर्तित कर दे। सांसारिक दृष्टि से विद्यावान् उसे कहते हैं जिसने पर्याप्त अध्ययन कर अपने मस्तिष्क में सूचनाओं का कोश स्थापित कर लिया हो, आजीविका के अर्जन में व्यस्त उस सांसारिक पुरुष का जीवन मात्र सुख-संरक्षित होता है। उस की जीवन शैली में इन विशिष्ट शास्त्रों के समावेश से कोई अन्तर नहीं आता है, उससे आचरण पद्धति ऊर्ध्वगामी नहीं होती है, उससे जीवन रेखा पृथ्वी के समानान्तर ही चलती रहती है। इसके विपरीत विद्या व्यक्ति को नया जन्म दे जाती है। ज्ञान की कसौटी भी यही है कि वह तत्क्षण बिना प्रयास के आचरण बन जाए। ज्ञानदीप जलते ही अज्ञान का अन्धकार खो जाए। जो स्वयं में ही मुक्ति बन जाए, जो जीवन की गति को ऊर्ध्वगामी कर दे, वह विद्या ही विद्या है–

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

श्वेताश्वतर ५.१

सत्य तो यह है कि मानव अपनी विवेक बुद्धि का प्रयोग कर श्रेय का मार्ग–कैवल्य का पथ अपनाने की इच्छा करता है किन्तु भौतिक सुख-समृद्धि तात्कालिक फल का लोभ दिखा कर अपनी ओर खींच लेते हैं। वस्तुतः अविद्यारूप कर्म के बेड़े कमजोर है– **प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः** मुण्डक १.२.७। योगक्षेम की संग्राहक होने पर भी कर्म रूप नौकाएँ संसार के पार ले जाने की क्षमता से युक्त नहीं, केवल इन पर विश्वास कर लेने वाला प्रेयमार्ग पर ही अनन्त–अनन्त यात्राएँ करता रहता है किन्तु क्षणिक सुखों, दुःखद परिणामों का रहस्य जान लेने वाला तत्क्षण श्रेयमार्ग का पथिक बन कर लक्ष्य

को अर्जित कर लेता है–

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

कठ २.२

उपनिषद् कहते हैं कि अविद्या विद्या नहीं हैं, भेदरेखा स्पष्ट है किन्तु जीवन के लिए दोनों उपयोगी हैं। अविद्या के अपने गुण हैं, विद्या के अपने गुण। अविद्या जीवन का बाह्य आयाम है, विद्या हृदय का परिवर्तन। अविद्या आवश्यक है पर्याप्त नहीं; विद्या न केवल इस जन्म की अपितु भावी जन्मों की भी सम्पूर्णता है। जीवन के लिए, जीवन की व्यवस्था तथा जीवन की कला दोनों का सन्तुलन अनिवार्य है। अतः आत्यन्तिक आनन्द की प्राप्ति के लिए धनवैभव जन्य क्षणिक सुखों का निवारण कर देना चाहिए। अक्षर तत्त्व की उपलब्धि के लिए क्षर तत्त्व का परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि अविद्या की कामना और विद्या की साधना एक साथ असम्भव है। आचार्य चाणक्य का मत है–

सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतो सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥ चाणक्यनीति

अविद्या में वर्तमान पण्डित यज्ञादि कर्म करते हुए स्वयं को धीर-विद्वान् मानते हैं यह उनका भ्रम है, वे तो जन्म-जन्मान्तर तक भटकेंगे। तो क्या विद्या-ज्ञान चर्चा करने वाले धीर विद्वान् है, गुणगान के योग्य हैं? नहीं, वे तो अन्धतम लोकों से भी घने अन्धेरे में गिरते हैं। धीर तो वे हैं जो किसी आकर्षण में लिप्त नहीं होते, जो संकट में विचलित नहीं होते। महाकवि कालिदास ने धीर पुरुष की परिभाषा दी है–

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतांसि त एव धीराः।

कुमारसंभव, १.५९

विद्या और अविद्या सम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचना ऋषि ने पूर्व व्याख्याताओं से सुनी है। यह ऋषि की विनम्रता है कि वह अपने ज्ञान का, साक्षात् अनुभव का दावा नहीं कर रहा है। दावा करने के लिए उसका अहंकार बचा भी नहीं है। दावा करने को अनुभव भी कोई नया नहीं है, यह अनुभव इसी प्रकार पूर्व ऋषियों को हुआ ही होगा। सत्य के अनुभूतकर्ता अनेक हो सकते हैं किन्तु सत्य का अनुभव सदा एक होगा, समरूप होगा। पूर्व ऋषियों द्वारा अनुभूत सत्य ही उसकी अपनी भी अनुभूति है, इस अनुभूति के विस्तार में ही संसार का कल्याण है।

विशेष–**विद्यया**–विद्या; तृ० ए० व०; ज्ञानेन। **अन्यत्**–भिन्नम्। **एव**–अङ्गाङ्गिभावनिषेधार्थे। आहुः– √आह् + लट्; प्र० पु० ब० व०: अदादि०; वदन्ति। **अविद्यया**–कर्मोपासनया। **धीराणां**–विद्वज्जनानाम्। **शुश्रुम**– √श्रु+लिट्; उ० पु० ब० व०; श्रुतवन्तः। **ये**–पूर्वाचार्याः। **नः**–अस्मान्। **तत्**–परापराविद्याविषयम्। **विचचक्षिरे**–वि + √चक्ष् + लिट्; प्र० पु० ब० व०; अदादि०; व्याख्यातवन्तः।

प्रस्तुत मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है। छन्द का लक्षण है–**द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समाः,** ऋग्वेदप्रतिशाख्य १६.३७।



ज्ञान और कर्म के समन्वय का फल

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ११॥

अन्वयः–यः तत् उभयं विद्यां च अविद्यां च सह वेद, (सः) अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते॥ ११॥

शब्दार्थ–यः–जो साधक। तत् उभयं–उन दोनों को। विद्यां-देवताज्ञान को। अविद्यां–कर्मयोग को। सह–एक साथ। वेद–जानता है। सः–वह। अविद्यया–कर्मानुष्ठान से। मृत्युं–मरणस्थिति को। विद्यया–देवताज्ञान से। अमृतं–अमृतत्व को। अश्नाति–भोग करता है।

अनुवाद–जो मनुष्य उन दोनों विद्या अर्थात् देवताज्ञान के तत्त्व को तथा अविद्या अर्थात् कर्म के तत्त्व को एक साथ जान लेता हैं, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार करके अमृतत्त्व का भोग करता है।

A person who worships both Vidya, the real knowledge and Avidya, the not knowledge, overpowers death by not knowledge or action and obtains immortality through knowledge.

संस्कृतभावार्थः–देवज्ञानरूपां विद्यां कर्मरूपाम् अविद्याञ्च उभयं यो एकस्मिन्नेव काले एकेनैव पुरुषेण अनुष्ठेयं वेत्ति सः उपासकः अग्निहोत्रादिलक्षणकर्मणा मृत्युभयं कर्मसु आसक्तिं वा परित्यज्य देवज्ञानेन अलौकिकत्वं ब्रह्मभावं गच्छति।

शा०–यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः।

यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एवैक पुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते-अविद्यया कर्मणाऽग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वाऽतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति। तद्धयमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम्॥ ११॥

भाष्यानुवाद–क्योंकि ऐसा है अतः विद्या अर्थात् देवताज्ञान तथा अविद्या अर्थात्–कर्म इन दोनों को जो एक साथ एक ही पुरुष के द्वारा अनुष्ठान किये जाने योग्य जानता है, इस प्रकार समुच्चय करने वाले उसको ही एक पुरुषार्थ का सम्बन्ध क्रमशः होता है, यही अब कहा जाता है।

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु अर्थात् मृत्युशब्दवाच्य स्वाभाविक अर्थात् व्यावहारिक कर्म और ज्ञान दोनों को पार करके विद्या अर्थात् देवताज्ञान से अमृत अर्थात् देवतात्मभाव को प्राप्त होता है। देवतात्मभाव को जो प्राप्त होता है, वही अमृत कहा जाता है।

व्याख्या–उपनिषद् के ऋषि की उद्घोषणा है कि अविद्या अर्थात् शास्त्रज्ञान तथा उससे सम्बद्ध कर्म एवं विद्या अर्थात् आत्मज्ञान के सन्तुलित आचरण से मृत्यु को पारकर अमरत्व को प्राप्त करना असाध्य नहीं है। विहित कर्मों के अनुष्ठान तथा परमात्मा की उपासना के द्वारा प्रायोजक मृत्यु पूर्व के सभी दोषों को नष्ट करके परब्रह्मरूप अमृत की उपलब्धि में सफल हो जाता है। मनुष्य के स्वाभाविक कर्म आहार, निद्रा, भयादि स्वाभाविक कर्म तथा इन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञान, स्वाभाविक ज्ञान ही मृत्यु शब्द से वाच्य हैं। कर्मरूप अविद्या से क्रियमाण कर्म और ज्ञान से विरत मुमुक्षु देवताज्ञान रूप विद्या से अमृतलाभ करता है। यहाँ अमृत का अर्थ पूर्ण अमरत्व नहीं, आपेक्षिक अमृतत्व अथवा देवतात्मभाव से है। पूर्ण अमृतत्व तो ब्रह्मज्ञान से ही मिलता है–**ज्ञानाद् ऋते न मुक्तिः**। अमरता के इस प्रकार में देवलोक की सुख-सुविधाएँ सहज हो जाती हैं। मनुष्यभाव की अपेक्षा देवभाव को प्राप्त होना ही अमृत है। नचिकेता की भाँति आचार्य यम से प्राप्त इन भोगों को ठुकरा देने वाला त्यागी पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। अतः जीवन की पूर्णता और सफलता दोनों के लिए विद्या तथा अविद्या का समुचित समन्वयन अनिवार्य है। उपनिषद् में कहा भी गया है कि आत्मशक्ति को जागृत कर लेने पर ही आत्मा से वीर्य मिलता है, यही प्रतिबोध अर्थात् आत्माभिमुखता ही अमृत सुलभ कराता है–

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥ केन २.४

अविद्या अर्थात् कर्म का रहस्य समझने में विज्ञ जन भी प्रमादवश त्रुटि करते हैं। कर्म तथा अकर्म के निर्णय में वे भी मोहित हो जाते है। विवेकबुद्धि से समुचित निर्णय कर शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों का निष्कामभाव से अनुष्ठान करने वाला साधक अशुभ से मुक्त हो कर अमरत्व को प्राप्त करता है–

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

अविद्या का अर्थ है काम्य कर्म, वह कर्म जो हमे आसक्ति से काम करने के लिए प्रेरित करता है, ऐसा कर्म अच्छा हो या बुरा, कर्मफल के बन्धन से बाँधता है, तो कर्म हैं अविद्याजन्य किन्तु वर्णाश्रमधर्मानुकूल कर्मो के समुचित अनुष्ठान से ही व्यक्ति अविद्या से मुक्ति पाता है, यथा लोक में भी काँटे से ही काँटा निकाला जाता हैं। अविद्यावान् अर्थात् कर्मरहस्य से अनभिज्ञ मिथ्याभिमानी जन कर्म को ब्रह्मभाव में बाधा समझ कर वर्णाश्रमविहित अवश्यकर्त्तव्य कर्मों का स्वरूपतः त्याग कर मोक्षरूप लक्ष्य से वञ्चित हो जाते हैं। यह त्याग निकृष्टतम त्याग है, इस त्याग से कर्मबन्धन से मुक्ति नहीं मिलती है। सभी प्रकार के कर्म दुःख रूप होते भी नहीं है, यह अवश्य है कि उनके सम्पादन में प्रायः क्लेश होता है। अतः मन, इन्द्रिय और शरीर को परिश्रम से बचाने के लिए कर्मों का परित्याग सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार कर्मत्याग से पुण्यलाभ तो असम्भव है, पाप अवश्य व्यापृत हो जाते हैं अतः कल्याण के इच्छुक को ऐसा त्याग कदापि न करना चाहिए। गीता इस विषय में प्रमाण है–

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ गीता १८.८

अविद्या अर्थात् विशिष्ट शास्त्रज्ञान अथवा सूत्र रूप में कहें तो विज्ञान का सारा संघर्ष मृत्यु से है। विज्ञान सदा ही उत्सुक और प्रयत्नशील है कि शरीर के अन्त को दूर तक टाला जा सके। शरीर विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्ध अनेक सफलताओं से इस की सम्भावना भी शीघ्र ही दिखती है कि व्यक्ति अनिवार्य मृत्यु की महाआपत्ति से बच कर इच्छामृत्यु से शरीरान्त को प्राप्त करेगा। चिकित्साशास्त्र की नवीन शोधों के कारण स्वास्थ्य लाभ के अनेक आश्चर्य सत्य भी हो रहे हैं अतः जीर्ण-शीर्ण शरीर के दुर्बल कोषों तथा अङ्गों के प्रत्यारोपण आदि क्रियाओं द्वारा मृत्यु की अधिक गति को नियन्त्रित करना कठिन कार्य नहीं होगा। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक है, क्या इस हाड़-मांस के शरीर का टूट जाना मृत्यु है? नहीं, केवल यही मृत्यु नहीं है, आलस्य मृत्यु है,

करणीय कर्त्तव्य का दायित्व वहन न करना मृत्यु है, अपने कर्त्तव्य को भूल जाना मृत्यु है–**मृत्यु वै प्रमादमहं ब्रवीमि।**

उपनिषद् भी प्राचीन काल से घोषणा करते रहे हैं कि अविद्या से मृत्यु को जीता जा सकता है किन्तु अमृत को नहीं पाया जा सकता है। अमृत को पाने के लिए विद्या ही एक मात्र उपाय है, इस गुह्य ज्ञान को जान लेने वाला शरीर और आत्मा से तादात्म्य तोड़ कर शरीर की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता को जान लेता है। शान्ति तथा तुष्टि आत्मा की नित्यता के अनिवार्य गुण है। भौतिक विज्ञान तृप्ति नहीं देता, 'अभी और आगे' की भूख को बढ़ाता है। यह भी एक प्रकार की दरिद्रता है जो अविद्या से उपलब्ध होती है। जीवन में, विद्या की स्वीकृति, सद्गुणों के आधान से जन्म को समृद्ध करती है–**सा विद्या या विमुक्तये।**

विद्या और अविद्या, कर्म और ज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय की दृष्टि सुखपूर्ण शरीर यात्रा का सम्पादन तो करती ही है, यथाविधि कर्मानुष्ठान से निर्दुष्ट चित्तवृत्ति वैराग्य की अभ्यासी हो कर अमृतत्व को भी अधिकृत कर लेती है–**ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युः अन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव,** कठ २.३.१८। केवल अविद्या अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान कण्ठस्थमात्र कर लेने से लाभ नहीं है, उसे आचरण में चरितार्थ करना अनिवार्य है। **अधीत्य शास्त्राण्यपि सन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान् स एव विद्वान्।** देवता विषयक ज्ञान से युक्त होकर अगर कोई निष्क्रिय होकर बैठा है तो वह लोक के लिए व्यर्थ है, उसकी लोकयात्रा दुर्वह है। **स्वामी विवेकानन्द** ने युवकों से कहा था–**गीता पढ़ने से अच्छा है मैदान में जाकर फुटबाल खेलो।** अतः शास्त्र का अव्यवहार करना विद्या है और शास्त्र की अक्रियात्मकता अविद्या है। इसे एक आख्यान के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है–नारद ने सनत्कुमार ऋषि के पास जाकर उनसे ज्ञानदान की प्रार्थना की। ऋषि ने कहा-तुम जो जानते हो, बताओ, मैं उससे आगे की शिक्षा दूँगा। नारद ने कहा–भगवान्! मैं समग्र शास्त्रविद्याएँ पढ़ कर भी मन्त्रविद् हूँ आत्मविद् नहीं, अतः शोकसन्तप्त रहता हूँ। मुझे आत्मज्ञान देकर शोक सागर से पार कीजिए, मेरे पुस्तकीय ज्ञान को व्यावहारिक ज्ञान में परिवर्तित कीजिए–

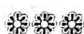
अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच।........सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति लोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयित्वति, छान्दोग्य ७.१,३।

भारतीय दर्शन में ब्रह्म की अनुभूति के लिए कर्मकाण्ड की उपयोगिता तो द्योतित ही की गई है। ब्रह्मज्ञ हो जाने के अनन्तर भी विदेहवृत्ति से कर्मों के अनुष्ठान का लोकसंग्रह की दृष्टि से उपदेश किया गया है। ब्रह्मज्ञान के उपदेष्टा आचार्य यम भी कर्मकाण्ड की कर्त्तव्यता का निषेध न करके वरादि प्रदान द्वारा अतिथियज्ञ न कर सकने का प्रायश्चित्त करते हैं—**नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व,** कठ १.९।

अन्ततः वैदिक विज्ञान की दृष्टि से अविद्या का अर्थ है वे पदार्थ जो यौगिक अतः नश्वर तथा सान्त हैं। विद्या से अभिप्राय है उन पदार्थों का ज्ञान जो अयौगिक, अनादि और अनन्त हैं। अविद्या के द्वारा अनित्य का सङ्केत पाकर ही मोक्ष का इच्छुक नित्य की प्राप्ति में सफल होता है—**मृत्योर्माऽमृतं गमय,** बृहदारण्यक १.३.२८।

विशेष—यः—जनः। **तत् उभयं**—ज्ञानकर्मद्वयम्। **विद्याम्**—आत्मज्ञानम्। **अविद्यां**—विनाशशीलं विज्ञानम्। **सह**—एकस्मिन्नेव क्षणे। **वेद**—√विद् + घञ्; जानाति। **अविद्यया**—अज्ञानेन। **मृत्युम्**—आयुषः अवसानम्, आसक्तिं कर्म वा। **तीर्त्वा**—√तृ + त्वा (इकार को दीर्घादेश) पारं गत्वा, उल्लंघ्य वा। **विद्यया**—जरारोगविहीनां स्थितिम्। **अश्नुते**—√अश् + लट् कर्मणि; प्र० पु० ए० व०; प्राप्नोति।

प्रस्तुत मन्त्र में अनुष्टुप् छन्द है। प्रथम पंक्ति में विद्यां-विद्यां पदों की आवृत्ति में प्रथम पद विद्यां सार्थक तथा द्वितीय पद विद्याम् अकार के अभाव में निरर्थक है। द्वितीय पंक्ति में विद्यया-विद्यया पदों की आवृत्ति में प्रथम पद निरर्थक तथा द्वितीय पद सार्थक होने से यमक अलंकार का सन्निवेश है। वर्णों की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार भी सन्निविष्ट है। मैत्रायणी उपनिषद् ७.१ में यह मंत्र पुनरुक्त है।



व्यक्त एवं अव्यक्त उपासना का समुच्चय

शा०—अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते—

भाष्यानुवाद—अब व्यक्त तथा अव्यक्त उपासनाओ का समुच्चय करने की इच्छा से प्रत्येक की निन्दा की जाती है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः॥ १२॥

अन्वयः–ये असम्भूतिम् उपासते (ते) अन्धं तमः प्रविशन्ति, ये सम्भूत्यां रताः, ते तत उ भूयः इव तमः॥ १२॥

शब्दार्थ–ये–जो पुरुष। असम्भूतिं–कारणरूप अव्यक्त प्रकृति। उपासते–आराधना करते हैं। ते–वे सांसारिक जन। अन्धं तमः–अदर्शनात्मक लोकों को। प्रविशन्ति-प्रवेश करते हैं। ये–जो साधक। सम्भूत्यां–कार्यब्रह्म। रताः–अनुरागी हैं। ते–वे विद्वान्। तत्: भूय–उसकी अपेक्षा अधिक। प्रविशन्ति–प्रवेश करते हैं।

अनुवाद–जो पुरुष कारण रूप अव्यक्त प्रकृति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो कार्यब्रह्म में ही आसक्त रहते हैं, वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

All who worship Asambhuti or not true cause are miserable and enter into utter darkness, those who delight in true cause are more miserable and enter into deeper darkness.

संस्कृतभावार्थः–ये जनाः अव्यक्तकारणरूपप्रकृतिम् आराध्नुवन्ति ते अदर्शनात्मके अज्ञाने प्रविशन्ति, विनाशं गच्छन्ति। ये जनाः कार्यब्रह्मणि संसारे एव आसजन्ति, ते जनाः तु तदपेक्षया अधिकम् अन्धकारं प्राप्नुवन्ति, अनेकासु निकृष्टयोनिषु भ्रमन्ति।

शा०–अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिं सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिस्तस्या अन्याऽसम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्याऽव्याकृताख्या तामसम्भूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीज-भूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः॥ १२॥

भाष्यानुवाद–जो असम्भूति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। सम्भवन (उत्पन्न) होना ही सम्भूति है, जिस कार्य की उत्पत्ति होती है उसे सम्भूति कहते हैं। उससे अन्य असम्भूति है, उसे प्रकृति–कारण–अविद्या–अव्याकृत कहा है। उस अव्याकृत नाम वाली प्रकृति–कारण–अविद्या–कामना तथा कर्मों की असम्भूति की जो उपासना करते हैं वे उसके अनुरूप ही अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। वे उससे भी अधिक गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो सम्भूति अर्थात् हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्म में रत रहते है।

व्याख्या–कार्यों की बीज रूप अव्यक्तप्रकृति का सूचक है असम्भूति पद

तथा आदि कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के लिए प्रयुक्त है सम्भूति पद। विद्या तथा अविद्या पद के समान सम्भूति व असम्भूति शब्द भी एक-दूसरे के विलोम के रूप में मन्त्र में प्रयुक्त हैं। उपनिषद् का यह मन्त्र कहता है कि जो अव्यक्त प्रकृति की उपासना में रत है, जो निर्गुण-निराकार के प्रति श्रद्धा से ओत-प्रोत हैं, जगत के मूलकारण प्रकृति की सन्तुष्टि में लीन हैं, वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। उनका अव्यक्त के प्रति आग्रह अवश्य होता है किन्तु अव्यक्त की उपासना का आधार कठिन होने से वह आग्रह दृढ़ नहीं होता, तो पतन स्वाभाविक है। अव्यक्तप्रकृति का सरलतम उदाहरण हैं इन्द्रियाँ—जिन पुरुषों की इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, प्रकृति के वे उपासक अन्धकार में, मूर्च्छा में लीन रहते हैं। इन्द्रियों की साधना के लिए चित्त की विवेकशून्यता अनिवार्य है, विवेकशून्यता की यह स्थिति ही अन्धकार की उपलक्षिका है। जो पुरुष आत्मा के रहस्य को नहीं जानते हैं, फलेच्छा के अवशिष्ट रहने से संसार में अनासक्त भी नहीं है, आवश्यकतानुसार स्पृहाभाव से कर्त्तव्य का निर्वाह कर रहे हैं, उनके चित्त की ब्रह्म में सुस्थिरता के लिए सूक्ष्म एवं स्थूल प्रकृति की उपासना को हेय कहा गया है।

सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना अणिमादि अष्टसिद्धियों को अलौकिक सामर्थ्य प्रदान कर अहङ्कार को जन्म देती है। अहङ्कार की बुभुक्षा असीम होती है, कभी समाप्त न होने वाली। इस अहङ्कार को सन्तुष्ट करने के लिए व्यक्ति महान्धकार में उतरता चला जाता है। इन्द्रियों पर संयम कर लेने वाला व्यक्ति भी अहङ्कार की सूक्ष्म उपासना में लिप्त रहता है। अहङ्कार स्वनिर्मित होता है, उससे मुक्त होना अत्यन्त दु:साध्य है; इन्द्रियाँ प्रकृतिप्रदत्त होती है अपेक्षाकृत सरलता से मुक्ति दे देती हैं। इन्द्रियों की उपासना को कम करने का अर्थ है कि इन्द्रियाँ न्यूनतम आवश्यकता पर ठहर जाएँ और अहङ्कार की उपासना कम करने का अर्थ है कि अहङ्कार शून्य पर आ जाए। जो न इन्द्रिय की उपासना करता है न अहङ्कार की, वह प्रकाश में प्रवेश करता है, वह आत्मा के सन्निकट हो जाता है।

निष्काम कर्म तथा आसक्ति से पराङ्मुख जो जन केवल सम्भूति—सम्भव होना अर्थात् उत्पत्ति को ही प्राथमिकता देते हैं, जीवन की अनिवार्यताओं से अधिक के अर्जन में ही सुख मानते हैं, जिनकी मानसिक बुभुक्षा सदा अतृप्त रहती है, गर्व के कारण जो दुर्लभ मानव जीवन का मूल्य न समझ कर अभिमानवश उसे व्यर्थ कर देते हैं, हृदय में श्रद्धा और संयम का अभाव होने के कारण वे लोकसेवा और शास्त्रज्ञान दोनों से असम्पृक्त रहते हैं।

व्यक्त को अगर आकार विशेष में भी सीमित करके देखा जाए, उसके

बाहर सर्वत्र व्यापक न माना जाएं, तो भी रूपविशेष–नामविशेष के प्रति आग्रह होगा। स्थानबद्ध, कालबद्ध, विचारबद्ध व्यक्त संकीर्ण हो जाएगा। उस पर व्यक्तिविशेष अपना अधिकार जताएगा। ऐसे मिथ्याभिमानी व्यक्ति विनाशशील देवाताओं की उपासना करने वालों की अपेक्षा भी अधिकतर घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। गीता भी इसी विचार की समर्थक है–

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ गीता १६.१६

असम्भूति–असम्भव अर्थात्–विनाशशील शरीर को प्राधान्य देने वाले जन मृत्युभय से भयभीत रहते हैं, इस लोक और परलोक की भोगसामग्रियों में आसक्त रह कर योगक्षेम में व्यस्त रहते हैं। इच्छा की प्रबलता से भोगों की प्राप्ति के लिए देवतादि अधिकारियों की प्रसन्नता मनाते हैं। पूर्ति के अभाव में शोक करते हैं और कार्य पद्धति में परिवर्तन न करके भाग्य को दोष देते हैं। वे मूढ़ व्यक्ति असम्भूति अर्थात् विनाशशीलत्व को प्राप्त होते रहते हैं। वे अविनाशित्व के महत्त्व को न समझते हुए साक्षात् मरणदशा में आसन्न रहते हैं, शरीर के मारे जाने पर आत्मा को मारा गया समझते हैं। मृत्यु को जीवन का अन्त समझ कर, पुनर्जन्म के हेतु रूप शुभ कर्मों में रुचि प्रदर्शित नहीं करते हैं किन्तु कर्मों के फलों के भोग की अनिवार्य व्यवस्था से वे जन्म लेकर बारम्बार मृत्यु को प्राप्त करते हैं। वे अन्धकारित लोकों अर्थात् कर्मों में प्रवृत्त रह कर अनन्त-अनन्त जन्मों तक ज्ञान के प्रकाश का लेश भी आभास नहीं पाते हैं। यद्यपि शरीरान्त की अन्तिम स्थिति की विचारधारा के विपरीत आत्मतत्त्व की सुदृढ़ स्थापना में श्रुति पुरुष से जगत् की उत्पत्ति, पालन और विलय की घोषणा करती है–**यतो वा इमानि भूतानि जयन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंवशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति,** तैत्तिरीय ३.१.१।

कुछ भाष्यकारों के मत में असम्भूति पद व्यक्तिवाद का पोषक है तथा सम्भूति पद समष्टिवाद का। एक वैयक्तिक स्वतन्त्रता की घोषणा करता है तो द्वितीय संघशक्ति की, सबके कल्याण की। व्यष्टि कल्याण में ही समष्टि सुख की सिद्धि है, व्यष्टि से ही समष्टि में प्रवेश का द्वार खुलता है। समाज की सुख-शान्ति वैयक्तिक अभ्युदय का कारण बनती है और व्यक्तिगत सन्तुष्टि सामूहिकता को, बन्धुत्व भाव को सबल करती है। आत्मसन्तोष और प्राणिमात्र के हित की भावना से सम्पूरित समाज मोक्ष का वास्तविक प्रतिरूप बन जाता है।

सत्य तो यह है कि उपनिषद् को न तो मात्र ज्ञान इष्ट है और न केवल कर्म। ऐकान्तिक विकास असद्वृत्तियों को सबल कर व्यक्ति को पाप का

भागी बनाता है, इसके विपरीत ज्ञान और कर्म का सन्तुलित प्रयोक्ता पुरुष अमृतत्व का भागी होता है। न केवल जन्म का प्राधान्य है न मृत्यु का–ये तो जीवन के दो महत्त्वपूर्ण छोर है, दोनों के प्रति समन्वयदृष्टि सदा अपेक्षित है। न केवल व्यष्टिवाद समाज का हित साध सकता है न समष्टिवाद; समन्वयदृष्टिकोण से एक सुखी स्वस्थ मानवसमाज की कल्पना आकार लेती है। जीवन के इस रहस्य को ग्रहण कर लेने वाला पुरुष अमृत का अधिकारी होता है–

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

मुण्डक ३.१.३

विशेष–असम्भूतिं–सम् + √भू + क्तिन्, न सम्भूतिः असम्भूतिः तां; सम्यग् भवनं सम्भूतिः उत्पत्तिः यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तद्विपरीताम् अव्याकृतां कारणरूपप्रकृतिम् अविद्याम्। **सम्भूत्यां**–कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भेति नाम्ना प्रसिद्धे।

उपर्युक्त मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है। व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार को सूचित कर रही है। सम्भूति तथा असम्भूति पद क्रमशः अन्धकार तथा गहन अन्धकार में प्रवेश का हेतु सिद्ध हो रहे हैं, अतः मन्त्र में काव्यलिङ्ग अलङ्कार दृष्टिगोचर है।



व्यक्त एवं अव्यक्त की उपासना के फल

शा०–अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह–

भाष्यानुवाद–अब उन दोनों उपासनाओं के समुच्चय के कारण रूप उन दोनों के फलों के भेद का वर्णन किया जा रहा है–

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १३॥

अन्वय–सम्भवात् अन्यत् एव आहुः असम्भवात् अन्यत् आहुः इति धीराणां शुश्रुम, ये नः तत् विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ–सम्भवात्–अव्यक्तप्रकृति की उपासना से। अन्यत्–अणिमादि ऐश्वर्यसिद्धि। असम्भवात्–अव्याकृत की उपासना से। अन्यत्–प्रकृतिलय। तत्–उस विषय विशेष को।

अनुवाद–कार्यप्रकृति से दूसरा ही फल बताते हैं तथा कारण प्रकृति से

दूसरा फल बताते हैं। इस प्रकार धीर पुरुषों के वचन हमने सुने हैं जिन्होंने हमारे लिए उस विषय की व्याख्या की थी।

Ṛṣis, the wise men assure us by explaining the subject that Sambhava, the result of cause is quite opposite to Asambhava, the result of action.

संस्कृतभावार्थः—कार्यब्रह्मोपासनात् विलक्षणमेव फलं प्राप्यते, कारणाव्यक्तप्रकृतेः उपासनाद् भिन्नमेव फलं लभ्यते। ब्रह्मतत्त्ववेत्तारः विषयं व्याख्यायन्तः अस्मान् प्रति कृपापूर्वकम् उपदिष्टवन्तः।

शा०—अन्यदेवेति। अन्यदेव पृथगेवाऽऽहुः फलं सम्भवात् सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। तथा चान्यदाहुरसम्भवादसम्भूतेरव्याकृतादव्याकृतोपासनाद्यदुक्तमन्धं तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ।। १३ ।।

भाष्यानुवाद—सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना से प्राप्त होने वाला अणिमादि ऐश्वर्यरूप पृथक् ही फल का व्याख्यान किया गया है तथा असम्भूति अर्थात् अव्याकृत प्रकृति की उपासना से अन्य ही फल बताया गया है। जिसे 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' आदि वाक्य से कहा गया है तथा पौराणिक जन जिसे प्रकृतिलय कहते हैं ऐसा हमने धीरों अर्थात् बुद्धिमानों का वचन सुना है, जिन्होंने हमसे उन व्यक्त और अव्यक्त उपासनाओं का फल व्याख्यान किया था।

व्याख्या—स्थितप्रज्ञ ऋषियों ने परम्परा से प्राप्त ज्ञान को सौजन्यतापूर्वक संसार के कल्याण के लिए प्रदान किया है। ऋषियों के उपदेश के अनुसार तत्त्व एक है अनादि तथा अनन्त, अगुण तथा अरूप। अज्ञानवश जीव को उस एक तत्त्व में दो रूपों का भ्रम होता है। उनमें प्रथम व्यक्त अर्थात् कार्यब्रह्म के चिन्तन से अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशित्व वशित्व—ऐश्वर्य की सिद्धियाँ मिलती हैं तथा अव्यक्त कारणब्रह्म के आराधन से प्रकृति में लय प्राप्त होता है। ब्रह्म में समाहित प्रकृति पुरुष के ईक्षण करते ही पुनः समूद्भूत हो जाती है, अव्यक्त व्यक्त हो जाता है, गोपित प्रकट हो जाता है। इस प्रकार दोनों उपासनाएँ फलवती हैं, यद्यपि दोनों के ज्ञान के फल भिन्न-भिन्न है।

दिव्यशक्ति से समन्वित देवता ब्रह्म के कार्यरूप की शुद्धतम अभिव्यक्ति हैं। वे अव्यक्त तथा व्यक्त का मिश्रित रूप, अलौकिक तथा लौकिक के

प्रतिनिधि रूप हैं। यह निर्भर करता है अनुभावक पर कि वह देवता के किस रूप की आराधना करता है, चेतन साकार रूप की अथवा परमचेतन निराकाररूप की। पूजाविधि में अन्तर होने पर भी, आडम्बर की पृथकता होने पर भी हृदय की समर्पण भावना उस अन्तिम परमगति के प्रति होती है, जो व्यक्त और अव्यक्त, सम्भूति और असम्भूति, क्षर और अक्षर की अपेक्षा उत्कृष्ट और सर्वातिशायी है–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ गीता १५-१६

ब्रह्म के इस कार्यरूप देवत्व की उपासना के फल पुण्यप्रद हैं कष्ट निवारक हैं तथापि आत्यन्तिक नहीं हैं। वे स्वर्गीय वैभव तो उपलब्ध करा सकते हैं किन्तु मुक्ति दिलाना उनके वश में नहीं। सुख कितना ही दीर्घकालिक हो उसका एक न एक दिन अन्त निश्चित है। अन्त आते ही स्वर्ग समाप्त हो कर नर्क प्रारम्भ हो जाता है, सुख के दिन समाप्त हो कर दुःख के क्षण प्रबल हो जाते हैं–

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतो दुःखमेकान्ततो वा।

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥ उत्तरमेघः ५२

मुक्ति के कामी परम स्वतन्त्रता की आकांक्षा से, आनन्द की कामना से क्षणिक सुख के मोह से परे जाकर ब्रह्म के अव्यक्त कारणरूप की उपासना करते हैं। अव्यक्त ब्रह्म की साधना से परिष्कृत चित्तवृत्ति वाले वे जन मोक्षरूप अन्तिम पुरुषार्थ को प्राप्त करते हैं, ब्रह्मनिर्वाणरूप चरम स्थिति में विलीन हो जाते हैं।

जगत् में व्यापक प्रकृति का जो अंश हमारे अन्दर घटाकाश–मठाकाशवत् व्याप्त है वही कारण शरीर है। कार्यशरीर स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर नाम से दो भागों में विभक्त है। स्थूल शरीर अस्थि, मांस, मज्जा, रक्त, आदि अनन्त मलों से संयुक्त है; रोग, जरा, मरण आदि विकृतियों से पूरित है; पाप, पुण्य आदि संस्कारों से सम्पृक्त है। अतः स्थूल शरीर आत्मा नहीं हो सकता है। सूक्ष्म शरीर पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पञ्चप्राण, बुद्धि और मन–इन सत्रह के संयोग से निर्मित है, यह स्थूल शरीरपात के अनन्तर भी बने रह कर संसरण करता है। जो वस्तु अनेकत्वयुक्त होती है, वह लोक में अनित्य देखी जाती है, सूक्ष्मशरीर भी इसका अपवाद नहीं हो सकता है। विकारशील तथा सीमित परिमाण वाला यह शरीर आत्मज्ञान के बाद निवृत्त

हो जाता है अतः यह असत् है। असत् सूक्ष्मशरीर भी आत्मा नहीं हो सकता है। गीता भी कहती है–**नासतो विद्यते भावो।**

सूक्ष्मशरीर स्थूल शरीर के माध्यम से विषयात्मक जगत् से सम्बन्ध स्थापित कराता है जो पुरुष कारण तथा कार्य शरीर में कर्त्तव्य और सिद्धान्त की भाँति परस्पर समन्वय रखते हैं, वे पुरुष इस प्रकार के दर्शन–जीवन के समन्वय से अष्टसिद्धियों की विलक्षण उपलब्धि के अधिकारी होते हैं। प्रायः वे सभी इन्हें हस्तगत कर, जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर, अहङ्कार में मत्त हो जाते हैं, तब ये सिद्धियाँ ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में बाधा बन जाती हैं। अतः संसार मार्ग से गुजरते समय सावधान हो कर, अवहित मन से लक्ष्य का निर्धारण करना चाहिए।

इसी प्रकार सम्भव अर्थात् व्यष्टि का मार्ग उत्पत्ति रूप जीवन को महत्त्वपूर्ण मान कर सांसारिक बुद्धि से केवल क्षणिक सुखों के सङ्कलन की आसक्ति में रत रखता है और असम्भव अर्थात् समष्टि का मार्ग विनाश अथवा मृत्यु को प्राधान्य देकर वैयक्तिक दायित्वों से पलायन को बाध्य करता है–ये दोनों ही अतिवाद के लक्षण हैं। काया के जन्म अर्थात् मानवयोनि मात्र की सुविधाओं के संग्रहण में जीवन यापन करने वाला मुक्ति के समीप भी नहीं पहुँचता है। शरीर का विनाश अर्थात् मरणदशा ही जीवन का अन्त है–जीवन के प्रति यह निराशावादी दृष्टिकोण भी घातक है।

ईशावास्य के ऋषि समन्वयमार्ग में विश्वास करते हैं वे किसी मार्ग का निषेध नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि किसी को कार्यब्रह्म की आराधना से मानसिक शान्ति मिलती है तो वह उसे न छोड़े, नियमित करे किन्तु यह जानता हुआ करे कि यह यात्रा व्यक्तिगत स्तर को एक निश्चित अवधि-मात्र; एक जीवन के लिए समृद्ध करती है, आत्यन्तिक आनन्द की उपलब्धि नहीं कराती है। उस आत्यन्तिक परम आनन्द की उपलब्धि के लिए तो कारण ब्रह्म की उपासना का पथ अपनाना होता है। इसी यात्रा में सम्पूर्ण मानवजाति की मुक्ति हेतु सम्यक् मार्गनिर्देशन है। अभिप्राय यह कि मानव वैयक्तिक हित का आकांक्षी अवश्य हो क्योंकि शरीरयात्रा के लिए वह अनिवार्य है किन्तु उससे आगे वह यात्रा नहीं है। आगे जाने के लिए निःस्वार्थ व्यक्तिगत भावना से ऊपर उठ कर सत्यं-शिवं-सुन्दरं पर ध्यान केन्द्रित करते हुए समाज की उन्नति की रचना का लक्ष्य निर्धारित करना होता है। वैदिक ऋषि की भी कामना है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

एक बिन्दु हो अथवा अनन्त विस्तार, जानने के विभिन्न आयाम हो सकते हैं। अनन्त-अनन्त कालों में, अनन्त-अनन्त जिज्ञासुओं ने, अपनी-अपनी बुद्धि से सत्य को परखा होगा, ऐसे में एक व्यक्ति की अनुभूति नगण्य है। कैसे दम्भ प्रदर्शित करे वह अपनी अल्पबुद्धि का, अपनी बूँद भर चेतना का। सत्य तो अनादि, अनन्त है—उसे जानना कोई नया भी तो नहीं। उसकी शरीर सत्ता के पूर्व न जाने कितनों ने सत्य को जान लिया होगा। उसकी अपेक्षा विस्तार से समझ लिया होगा। कैसे अहङ्कार अनुभव करे वह अपनी जागृति का, अपनी मौलिकता का, अतः विनम्र भाव से वही कह रहा है जो पूर्व ऋपि कह चुके हैं।

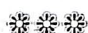
असाधारण ऋषियों का असाधारण वक्तव्य है यह, पूर्ण की भाँति होंगे वे पुरुष, जिन्होंने इतना गहरा जान लिया; शून्य की भांति रहे होंगे वे मनुष्य जिन्होंने जानने के सारे दावे छोड़ दिये। यह उदाहरण है स्वयं को सबके लिए मिटा देने का; यह प्रमाण है सबको स्वयं में समाहित कर लेने का—

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥

ऋग्वेद १०.१९१.२

विशेष—सम्भवात्—अव्यक्तब्रह्मोपासनात्। **अन्यत्**—अणिमाद्यैश्वर्य-लक्षणम्। **असम्भवात्**—अव्याकृतोपासनात्। **अन्यत्**—प्रकृतिलयम्।

प्रस्तुत मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है। आठ-आठ अक्षरों वाले चार पाद अनुष्टुप् छन्द के सूचक हैं।



फल का स्पष्टीकरण

शा०—यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्त एवैक पुरुषार्थत्वाच्चेत्याह।

क्येंकि ऐसा है, इसलिए सम्भूत और असम्भूति की उपासनाओं का समुच्चय उचित ही है। इसके अतिरिक्त एक पुरुषार्थमूलक होने से भी उनका समुच्चय ठीक है, ऐसा कहते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय७ंसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ १४ ॥

अन्वयः—यः तत् उभयं सम्भूतिं च विनाशं च सह वेद (सः) विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते।

शब्दार्थ—सम्भूतिं—उत्पत्ति अथवा कार्यब्रह्म। वेद जानता है। अश्नुते—पाता है। विनाशं—मृत्यु अथवा कारण ब्रह्म।

अनुवाद—जो मनुष्य सम्भूति अर्थात् कार्य ब्रह्म तथा विनाश अर्थात् कारण ब्रह्म को साथ-साथ जानता है, वह कार्यब्रह्म की उपासना से मृत्यु को प्राप्त करके कारण ब्रह्म के द्वारा अमृत को प्राप्त कर लेता है।

A person who worships both Sambhuti, the true cause and destruction, overcomes death by perishable body and obtains immortality through the true cause.

संस्कृतभावार्थः—कार्यब्रह्मरूपसम्भूतिं नश्वरजीवनञ्च उभयं यो एकस्मिन्नेव काले एकेनैव पुरुषेण अनुष्ठेयं वेत्ति, सः उपासकः जीवनस्य नाशत्वेन मृत्युभयं कर्मसु आसक्तिं वा परित्यज्य कार्यब्रह्मणा अलौकिकत्वं ब्रह्मभावं प्राप्नोति।

शा०—सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह। विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदेनोच्यते विनाश इति। तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्। तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्यासम्भूत्याऽव्याकृतोपासनयाऽमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते। सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः। प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ।। १४ ।।

भाष्यानुवाद—जो पुरुष असम्भूति और विनाश—इन दोनों की उपासना के समुच्चय को जानता है—वह जिसके कार्य का धर्म विनाश है उस धर्मी के साथ धर्म के अभेद सम्बन्ध से उसे विनाश कहा गया है—उस विनाश की उपासना से अधर्म तथा कामना आदि दोषों से उत्पन्न हुए, अनैश्वर्यरूप मृत्यु को प्राप्त करके, हिरण्यगर्भ की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति रूप फल ही मिलता है, अतः उससे अनैश्वर्य आदि मृत्यु को पार करके—असम्भूति—अव्यक्त की उपासना से प्रकृतिलयरूप अमृत को प्राप्त कर लेता है।

'सम्भूतिं च विनाशं चं' इस पदसमूह में प्रकृतिलयरूप फल को बताने वाली श्रुति के अनुरोध से अवर्ण के लोपपूर्वक निर्देश को समझना चाहिए अर्थात् असम्भूति को ही सम्भूति कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए।

व्याख्या—आचार्य शङ्कर सम्भूति और विनाश शब्दों से क्रमशः हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति तथा अव्यक्त प्रकृति अर्थ को ग्रहण करते हैं। हिरण्यगर्भ की

उपासना करने वाला साधक अणिमादि ऐश्वर्य को सिद्ध करके अनैश्वर्यरूप मृत्यु को पार कर लेता है और प्रकृति के विधानों यथा सृष्टि, प्रलय आदि की नश्वरता जान कर अमृतत्व की प्राप्ति कर लेता है। वे 'तीर्त्वा सम्भूत्या' पदों में अवर्ण लोपपूर्वक निर्देश मानकर 'तीर्त्वा असम्भूत्या' इस प्रकार विग्रह स्वीकार करते हैं। श्री वेदान्तदेशिक का मत है कि इस मन्त्र का शङ्करभाष्य उचित अर्थों को अभिव्यक्त कर पाने में अक्षम है।

मोक्ष जीवन का प्रथम व अन्तिम लक्ष्य है, उसकी प्राप्ति के साधन विनाश तथा सम्भूति नहीं हो सकते हैं, ये दोनों माध्यम अपरा विद्या की प्राप्ति के सहायक मात्र हो सकते हैं। मानव विनाश अर्थात् अनित्य दृष्टि से शास्त्रविज्ञान प्राप्ति की प्रतिबन्धक बाधाओं को दूर कर के सम्भूति अर्थात् जन्मप्राप्ति का लाभ उठा कर असम्भूति अर्थात् निष्कर्मता–वैराग्य आदि साधनों के अभ्यास द्वारा मोक्ष का अधिकारी होता है। इस दृष्टि से आचार्य शङ्कर द्वारा निर्दिष्ट विग्रह 'तीर्त्वा असम्भूत्या' समुचित ही प्रतीत होता है।

मुक्तिकामी व्यक्ति के लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि बाह्य निकृष्ट वृत्तियों का दमन आवश्यक है। हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि आभ्यन्तर दोषों के परिहार द्वारा अन्तःकरण की निर्मलता भी अपेक्षित है। इन दूषित भावनाओं का विनाश कर लेने वाला अन्तर्मुखी वैरागी विषयों के अनुकूल या प्रतिकूल संयोग या वियोग में चित्त की अशुद्धियों के शान्त हो जाने से सदा निर्विकार रहता है। मृत्युरूप दुःख एवं जन्मरूप अवसाद के बन्धनों से मुक्त हो कर समाधिस्थ अवस्था को प्राप्त हुआ योगी ब्रह्म की साधना से ब्रह्मरूप अमृत में, परमशान्ति में प्रवेश कर जाता है–

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

गीता २.७०

जीवन एक सतत प्रवाहित अविरल धारा है, जन्म और मृत्यु रूप दो अवश्यम्भावी घटनाओं का संयोग है। विधि के अटल विधान सम्भूति–उत्पत्ति तथा विनाश–मरणधर्म निश्चित हैं। जो अज्ञ प्राणी शरीर के जन्म को जीवन का आदि मानता है तथा शरीर के मरण को जीवन का अन्त; आत्मा के अस्तित्व से अनभिज्ञ वह जन भौतिकवादी चित्त के विक्षेपदोष से दूषित है, सत्य से पराङ्मुख है। सत्य तो यह है कि जन्म और मृत्यु दो परस्पर सम्बद्ध तत्त्व हैं। जन्म के साथ ही मृत्यु की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। नश्वर संसार में नित्यानित्यवस्तुविवेक से समग्र ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के एकमात्र कारण

अद्वय तत्त्व को जान लेने वाला साधक मृत्युभय से विनिर्मुक्त हो कर अव्युत्पन्न परमात्मा का साक्षात् करता है। गीता का भी मत है—

जातस्य ही ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हति।। गीता २.२७

उपनिषद् के ऋषि ब्रह्म √बृह् अर्थात् वर्धमान परम सत्ता को दो प्रकार से व्याख्यायित करते हैं—सम्भूत ब्रह्म तथा असम्भूत ब्रह्म; जिससे जगत् हुआ है तथा जिसमें लीन हो जाएगा। असम्भूत ब्रह्म केन्द्र ब्रह्म है, वहाँ से जगत् का विस्तार होता है, वहीं से जीवन की परिधि विस्तृत होती है। विचार करने पर यह आभासित होता है कि सृष्टि रचना के पूर्व एक क्षण ऐसा अवश्य होगा जब यह विश्व शून्य रहा होगा, बिन्दु के आकारवत् सङ्कुचित रहा होगा। ऐसा बिन्दु जिसकी हम मात्र कल्पना ही कर सकते हैं, जो केवल परिभाषा में ही व्याख्येय है, आकार-प्रकार से परे, क्योंकि अङ्कित करते ही उसमें लघुतम विस्तार आ जाता है। ऐसा बीज, जिसमें भूत अभी अभिव्यक्त होगा; किन्तु इस क्षण तो वह शून्यवत् रिक्त है, बिन्दुवत् आकृति की कल्पना में सीमित है। असम्भूत ब्रह्म सृष्टि की पूर्वतम, सूक्ष्मतम अवस्था है जिसकी व्याख्या साधारणबुद्धि मानव के वश के परे है।

सम्भूत ब्रह्म सृष्टि का अनन्त परिधि तक विस्तार है, जो गतिमान् था और निरन्तर रहेगा भी। यही विस्तृत ब्रह्म केन्द्र से, बिन्दु से प्रारम्भ हो कर अनवरत फैल रहा है, गति कर रहा है। एक बीज पौधा बन कर, वृक्ष बन कर विशाल होता जाएगा फिर अनन्त बीजों को, फिर अनन्त वृक्षों को विस्तार देता रहेगा; ठीक ऐसे ही प्राणी उत्पत्ति से प्रारम्भ होकर शैशव, कैशार्य, यौवन, प्रौढ़, वृद्धि को प्राप्त हो कर मृत्यु रूप शून्य बिन्दु पर पुनः आ जाएगा। जीवन का यह विस्तार एक क्षणिक भी हो सकता है, एक दिवसीय भी और शतवर्षीय भी। इसीलिए उपनिषद् का यह महावाक्य कहता है कि विस्तृत ब्रह्म अर्थात् सम्भूत ब्रह्म को जानने वाला मृत्यु को पार कर लेता है, बिन्दु ब्रह्म अर्थात् असम्भूत ब्रह्म को जान लेने वाला अमृत को प्राप्त कर लेता है।

एक शङ्का स्वाभाविक है कि ऋषियों ने ब्रह्म को अवश्य जाना होगा अन्यथा उनके मुख से यह ब्रह्मवाक्य न निकला होता। परन्तु वे तो मृत्यु को जीतने की घोषणा कर के भी जीवित नहीं हैं। तब मृत्यु को जीत लेने से क्या अभिप्राय है? अभिप्राय यह कि मृत्यु की अनिवार्यता को जान लेने वाला मृत्यु से भयभीत नहीं होता है। नचिकेता की भाँति वह स्वयं मृत्यु के द्वार पर जाता है और मृत्यु उसे नहीं मिलती, मिलती भी है तो भयभीत सी। जीवन जो अनिवार्य है, जो कुछ काल के लिए अप्रकट से प्रकट हुआ है फिर अप्रकट

हो जाएगा, उसके लिए क्या शोक करना–

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ गीता २.२८

जन्म और मृत्यु दो घटनाएँ हैं जो जीव के शरीर मात्र को प्रभावित करती हैं। आत्मा तो जन्म के पहले भी वर्तमान था और मृत्यु के बाद भी रहेगा, अन्यथा जन्म कौन लेगा और मृत्यु किसकी होगी? जन्म से असम्भूत जीवन सम्भूत होता है, मृत्यु को पार करता है, पुनः असम्भूत हो जाता है। मृत्यु से अमृत को प्राप्त हो जाता है वह, जो स्वयं को इस व्यवस्था का अंश मान लेता है। मृत्यु है, अवश्य है, इसमें दुःख कहाँ है? जन्म है, अवश्य है, इसमें हर्ष कहाँ है? असम्भूत और सम्भूत ब्रह्म की इस व्यवस्था की स्वीकृति के साथ अन्तः करण की अस्त-व्यस्तता शान्त हो जाती है, अशान्ति का कोई कारण नहीं रह जाता है।

सम्भूति अर्थात् जन्म क्या है? पञ्चतत्त्वों का थोड़ी थोड़ी मात्रा में मिल जाना। असम्भूति अर्थात् मृत्यु क्या है? मिले हुए पञ्चतत्त्वों का पुनः बिखर जाना। सम्भूत को जानने वाला मृत्यु को जीत लेता है। असम्भूत में प्रवेश करने वाला अमृत को जान लेता है। सम्भूति से असम्भूति में प्रवेश, मृत्यु से अमरत्व की साधना जीवन को संन्यस्त कर जाती है, संन्यस्त चित्त को दर्पण कर जाती है; ऐसा निर्मल दर्पण, जिसमें कज्जल की एक भी रेखा नहीं–

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ गीता ५.३

विशेष–सम्भूतिं–सम्यग् भवनं सम्भूतिः; कारणरूपाप्रकृतिः। **विनाशं**–वि + √नश् + घञ्; सान्तं कार्य, विनाशधर्मकं शरीरम्। **विनाशेन**–हिरण्यगर्भनाम्ना कार्योपासना। **मृत्युं**–जीवनान्तमं। **सम्भूत्या**–अव्यक्तप्रकृत्या। **अमृतं**–प्रकृतिलयं ब्रह्मभावं वा। **अश्नुते**–गच्छति।

प्रस्तुत मन्त्र में अनुष्टुप् छन्द है। सरल शब्दों में मृत्यु तथा अमृत का परिचय प्रस्तुत किये जाने के कारण प्रसाद गुण है।



उपासक की प्रार्थना

शा०–मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम्। एतावती संसारगतिः। अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद् विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम्। **एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र**

प्रकाशितः। तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यातं ब्राह्मणमुपयुक्तम्। निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तं तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वञ्जिजीविषेद् ये विद्यया सहापरब्रह्मविषयया तदुक्तं विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय౮सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत इति। तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्युच्यते–तद्यत् तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष एतदुभयं सत्यं। ब्रह्मोपासीनो यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते–

भाष्यानुवाद–शास्त्रों के द्वारा कहे गए प्रकृतिलय पर्यन्त समस्त फल (गौ, भूमि, सुवर्ण आदि) मानुष तथा दैवी सम्पत्ति से सिद्ध होते हैं। यहीं तक संसार की गति है। इसके पश्चात् पूर्वोक्त 'आत्मैवाभूत् विजानतः' इस सातवें मन्त्र में कहा गया है—सम्पूर्ण एषणाओं के त्यागरूप संन्यास का फल सर्वात्मभाव ही है। इस प्रकार यहाँ प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप से दो प्रकार के वेदार्थ को स्पष्ट किया गया है। उसमें भी विधि तथा प्रतिषेधरूप सम्पूर्ण प्रवृत्तिलक्षण वेदार्थ का प्रकाशन करने में प्रवर्ग्य पर्यन्त ब्राह्मणभाग उपयोगी हैं। निवृतिलक्षण वेदार्थ को स्पष्ट करने में इससे आगे बृहदारण्यक का उपयोग समुचित है।

उनमें भी गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त कर्मों को करते हुए ही जीवित रहने की जो इच्छा करता है, उसे अपरब्रह्मविषयक विद्या के साथ ही जीवित रहना चाहिए जैसा कि कहा है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय౮सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

तो किस मार्ग से अमरत्व प्राप्त करते हैं, उसे बताते हैं, वह जो सत्य है, वही यह आदित्य है। इस आदित्यमण्डल में जो पुरुष है और जो पुरुष दक्षिण नेत्र में है, ये दोनों ही सत्य हैं। जो ब्रह्म की उपासना और शास्त्रनिर्दिष्ट कर्म करने वाला है, वह अन्तकाल उपस्थित होने पर आदित्यमण्डलस्थ आत्मा से 'हिरण्मयेन पात्रेण' इत्यादि मन्त्र के द्वारा आत्मप्राप्ति के द्वार की याचना करता है–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। १५ ।।

अन्वयः–पूषन्। सत्यस्य मुखं हिरण्मयेन पात्रेण अपिहितम्, सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वम् अपावृणु॥ १५ ।।

शब्दार्थ–पूषन्–पोषक। सत्यस्य–सत् युक्त ईश्वर। मुखं–प्रवेशद्वार।

हिरण्मयेन—सुवर्ण सदृश चमकदार। पात्रेण—ढक्कन से। अपिहितम्—ढका हुआ है। सत्यधर्माय—सत् रूप के दर्शन के लिए। तत्—उस आवरणविशेष को। त्वं—हे देव!। अपावृणु—हटा दीजिए।

अनुवाद—हे पोषण करने वाले! सत्य का मुख सुवर्णयुक्त पात्र से ढका हुआ है, सत्यधर्म को देखने के लिए अथवा सत्यधर्म का अनुष्ठान करने वाले मेरे लिए उस आवरण को हटा दीजिए।

O Puṣan! the face of the true is covered with a golden pot. Open that, so that we may see the nature of the truth.

संस्कृतभावार्थः—जगत्पोषक देव! परब्रह्मणः वास्तविकं रूपं ज्योतिर्मयेन भासमानेन आवरणेनाच्छदितं वर्तते। तत् चिन्मयरूपं दर्शयितुं प्रतिबन्धकं दाहकावरणमपसारय।

शा०—हिरण्मयेन पात्रेण इति। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत्। तेन पात्रेणेवापिधानभूतेन सत्यस्यैवाऽऽदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहित-माच्छादितं मुखं द्वारं, तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यमथवा यथा-भूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये॥ १५ ॥

भाष्यानुवाद—जो सोने जैसा हो उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्य का अर्थ ज्योतिर्मय है, उस ढक्कन रूप पात्र से ही आदित्यमण्डलों में स्थित सत्य अर्थात् ब्रह्म का मुखद्वार आच्छादित है। हे पूषन्! सत्य की उपासना करने वाले! मुझ सत्यधर्मा के लिए अथवा यथार्थधर्म का अनुष्ठान करने वाले मेरे प्रति अपने सत्यस्वरूप की उपलब्धि के लिए तू उस पात्र को उद्घाटित कर दे।

व्याख्या—हिरण्मय पर कोश में विरज ब्रह्म, निष्कल, शुभ्र और ज्योतियों के भी ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का वास है जो स्वयं प्रकाश्य है और चराचर जगत का प्रकाशक है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषं ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥

मुण्डकोपनिषद २.2.9

ईशावास्योपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि मानव जीवन कर एकमात्र लक्ष्य है तपधर्मादि के अनुष्ठान से सत्य का साक्षात्कार। आदित्य मण्डल में स्थित सत्य का यथार्थरूप माया की सुवर्णमय चकाचौध के आवरण से ढका हुआ है, मेरा आपसे अनुरोध है कि उस सत्यरूप दर्शन के लिए, सत्य को देखने की

इच्छा रखने वाले मेरे लिए इस आवरण को हटा दीजिए। वैदिक ऋषियों द्वारा बाह्य प्रकृति में आदित्य को सगुण ब्रह्म का सर्वोत्तम प्रतीक माना गया है। जिस एक तत्त्व के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, वह ब्रह्म सत्य में ही तो प्रतिष्ठित है—**तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्,** बृहदारण्यक ५.१४.४। जिस सत्यरूप ब्रह्म के दर्शन में अशक्त साधक ब्रह्म के प्रतीक आदित्य की उपासना करता है। वैदिक साहित्य में सत्य अथवा ऋत और आदित्य एक ही माने गए हैं—**तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एव एतस्मिन्मण्डले पुरुषो....** सत्य वह नहीं जो मुख से बोला जाये, जो व्यक्ति का अत्यान्तिक कल्याण सम्पादित करे, सत्य वह है। सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवताओं की प्राणशक्ति सत्य ही है—

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

महाभारत, अनुशासन ७५.३०

सत्य त्रिकालाबाधित, एकरस, अखण्ड, अविकृत रहता है। सत्य में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसका रूपान्तरण नहीं होता। सत्य अर्थात् ईश्वर; उस सत्य को, उस परमेश्वर को असत्य के द्वारा, मिथ्या के द्वारा अथवा अनृत के द्वारा ढक दिया गया है। असत्य के यथार्थ, कटु, घृणित रूप से आबाल-वृद्ध सभी परिचित हैं। उस रूप (अहिंसा, अधर्म, अहं, प्रमादादि) से वह जगत् को आकृष्ट नहीं कर पाएगा अतः वह हिरण्मय आवरण पहन कर मोहक बन कर सत्य को ढक कर हमारे सामने आता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण भी स्वयं को त्रिगुणात्मिका योगमाया से आच्छादित मानते हैं—**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः,** गीता ७.२५। उनकी शरणागति को स्वीकार करने वाला इस योगमाया को पार करने में समर्थ होता है—**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते,** गीता।

सामान्य धारणा है कि सत्य असद्रूप अन्धकार से ढका होता है, किन्तु जिन्होंने सत्य को खोजा है उन ऋषियों का अनुभव है कि सत्य प्रकाश से ढका है, ज्योति से आवृत है। सत्य के चतुर्दिक् यदि अन्धकार दिखता है तो वह प्रकाश की अधिकता के कारण दिखता है। भौतिक सुखों की अनृत कामनाएँ ब्रह्मज्ञान की सत्य कामनाओं को ढके हुए हैं जो व्यक्ति को व्यर्थ की इच्छाओं के लिए प्रेरित कर वस्तुस्थिति की यथार्थ अनुभूति से वञ्चित करती रहती हैं—**ते इमे सत्याः कामा अनृतापिधाना तेषां सत्यानां सत्तामनृतमपिधानम्,** छान्दोग्य ८.३.१।

प्रकाश के आधिक्य में आँखे अन्धी हो जाती हैं। सूर्य की ओर देखने पर

नेत्र दोष के कारण, प्रकाश की अधिकता अन्धकार सा उपस्थित कर देती है। सत्य की यात्रा भी प्रकाश की क्रमशः अधिकता से जीव की अपात्रता के कारण अन्धकार सा भ्रम प्रसारित कर देती है। वह सारा अन्धकार है प्रकाश के आधिक्य के कारण। हृदय भी अन्धकारित सा प्रतीत होने लगता है आन्तरिक पवित्रता के प्रकाश के आधिक्य से, इतना अधिक प्रकाश कि आँखे अन्धी सी हो जाती हैं, राह खोने लगती है। उस क्षण में ऋषि अनुनय करता है कि प्रभु! इस अन्तिम बाधा को हटा दीजिए। अभी तक सारे अवरोध पार कर मैं सत्य के निकट आ पहुँचा हूँ किन्तु अब यह अन्तिम अवरोध, यह सत्य के चारों ओर फैला प्रकाश आँखों को खुलने ही नहीं दे रहा है। वह प्रकाश सुवर्ण के समान प्रीतिकर है, सुखद है, शान्तिदायी है। प्रकाश हटाने की इच्छा भी नहीं हो रही है। प्रकाश के रहते सत्य का दर्शन नहीं होगा, यह निश्चित है। अतः पूषन्! प्रकाश का अपोहन कर मुझे अन्तिम संघर्ष में पराजित होने से बचा लीजिये।

सत्य और सुवर्ण, शुभ और अशुभ विपरीत लक्षणों वाले तत्त्व हैं। सुवर्ण का लोभ मानव को अनुचित में प्रवृत्त करता ही है। यदि सत्य को पाना है तो सुवर्ण का लोभ छोड़ना ही होगा। सुवर्ण अर्थात् भौतिक उन्नति की चमक सत्य के आध्यात्मिक रूप के दर्शन में बाधास्वरूप है, अन्तिम दर्शन के पूर्व इस सुवर्ण को, शुभ को भी छोड़ देना पड़ता है क्योंकि उतना पकड़ना भी सत्य के दर्शन में बाधा बन जाता है। अतः अशुभ के, अन्धकार के पार तो जाना ही है; शुभ से, प्रकाश से भी ऊपर उठना है। चेतना के इन दोनों स्तरों का अतिक्रमण कर जाने पर ही उस परम एक का दर्शन होता है जो न प्रकाश है न अन्धकार, न जीवन है न मृत्यु। अतः प्रार्थना है कि मुझ जीव में इतना संयम व साहस दीजिए कि मैं भोग-लालसा की, त्याग-धर्म की यवनिका हटा कर सत्य का दर्शन कर सकूँ।

मरणोन्मुख कर्मनिष्ठ साधक अन्तकाल में आत्मज्ञान के उद्देश्य से आदित्यमण्डलस्थ सत्यस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहता है। अब वह हिरण्मय सूर्यमण्डल के बाह्यदर्शन मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। भौतिक वस्तुओं के आकारज्ञान के लिए नेत्र तथा सूर्यप्रकाश दोनों की आवश्यकता होती है किन्तु सत्य के दर्शन के लिए न नेत्र अपेक्षित होते हैं न सूर्य। वह तो स्वप्रकाश्य है–**अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः**, बृह० ३.४.९। एक सत्ययुग का समावेश चरित्र में समस्त सद्गुणों का आधान स्वयं ही कर देता है अतः सत्य का बहिष्कार न करने वाला स्वयं सत्य में प्रतिष्ठित होता है–**तत् सत्ये प्रतिष्ठितम्**, बृह० ५.१४.४। असत्य सामयिक है सत्य चिरकालिक, एक असत्य

को सिद्ध करने के लिए अनेक असत्यों का सहारा लेना पड़ता है किन्तु एक सत्य उन सभी असत्यों को पराजित कर देता है। देवलोक की ओर जाने वाला मार्ग सत्य से बना है, आप्तकाम ऋषियों का परम गन्तव्य स्थल भी सत्य ही है–

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

मुण्डक ३.१.६

समर्पण के इस सूत्र में पीड़ा है ऋषि की कि अन्धकार से तो संघर्ष करके मैं पार आ गया, अब मैं श्रान्त-क्लान्त हो चुका हूँ, अब प्रकाश के पार जाने का मुझमें साहस नहीं, वह भार मैं आपके हाथों में सौंपता हूँ। श्रवण–मनन–निदिध्यासन का निरन्तर अभ्यास करने पर भी आपका अनुग्रह अपेक्षित है। मुझे सत्यधर्म का दर्शन कराइए क्योंकि सत्य ही धर्म है, तभी सत्य बोलने वाले के लिए कहा जाता है कि यह धर्म कहता है और धर्म बोलने वाले के लिए कहते हैं कि यह सत्य कहता है–**यः वै सः धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति,** बृह० १. १४.४।

प्रकाश और अन्धकार के पार कैसा होगा सत्य, जैसे सीप से निकला मोती हो, जैसे असंख्य सूर्य अन्तरात्मा में एक साथ जल उठे हों, जहाँ न द्रष्टा हो न दृश्य, जहाँ न ज्ञाता हो न ज्ञेय, सब कुछ खो कर केवल ज्ञान बचे।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ गीता १३.३३

विशेष–पूषन्– √पुष् + कनिन्; पुष्णातीति पूषा; पोषकदेवः। **सत्यस्य**–स + ति + यम्; ष० ए० व०; सदाकारेश्वरस्य। **मुखं**–सत्स्वरूपं प्रवेशद्वारं वा। **हिरण्मयेन**–हिरण् + मयट्; तृ० ए० व०; सुवर्णवत्भास्वरेण। **पात्रेण**–आवरणेन। **अपिहितं**–न पिहितं; अपि + √धा + क्त; 'दधातेर्हि' आच्छादितम्। **सत्यधर्माय**–सत्यं धर्मः यस्य सः तस्मै; च० ए० व०; सच्चिदानन्दरूपदर्शनाय। **दृष्टये**– √दृश् + क्तिन्; च० ए० व०: तत् आवरणविशिष्टम्। **त्वं**–देवाधिदेवः। **अपावृणु**–अप् + आ + √वृ + लोट्; म० पु० ए० व०; स्वादि०; अनावृतं करोतु।

प्रस्तुत मन्त्र में चार चरणों में आठ अक्षर निबद्ध होने से अनुष्टुप् छन्द है। मन्त्र में उपमेय ब्रह्म के उल्लेख का अभाव तथा केवल उपमान-हिरण्मयपात्र का उल्लेख चमत्कार उत्पन्न कर रहा है अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति

अलङ्कार अभिव्यक्त है। सरल, सुबोध पदों से अर्थ की सरलतया अभिव्यक्ति के कारण प्रसाद गुण का समावेश है। हिन्दू धर्म में मृत्यु काल में अन्त्येष्टि के अवसर पर यह मन्त्र पढ़ा जाता है। मन्त्र किञ्चित् परिवर्तन के साथ मैत्रायणी उपनिषद् ६.३५ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ५.१५.१ में प्राप्त है।



यथार्थदर्शन का आग्रह

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥ १६॥

अव्ययः–पूषन्! एकर्षे! यम! सूर्य! प्राजापत्य! रश्मीन् व्यूह, तेजः समूह, यत् ते कल्याणतमं रूपं तत् ते पश्यामि, यः असौ असौ पुरुषः, अहं सः अस्मि॥ १६॥

शब्दार्थ–पूषन्–पूषा अथवा सूर्य। एकर्षे–अद्वितीय ऋषि। यम–नियामक। सूर्य–प्रेरणादायक। प्राजापत्य–प्रजाओं के स्वामी। रश्मीन्–किरणों को। व्यूह–बटोर लें। समूह–समेट लें। कल्याणतमं–मङ्गलमय। तत्–श्रेष्ठ रूप। ते–आपके अनुग्रह से। पश्यामि–साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ। असौ असौ–यह प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। पुरुषः–परमचेतना, आत्मा। अहं–अज्ञजीव। सः–ईश्वर, ब्रह्म।

अनुवाद–हे जगत्पोषक सूर्य! हे अद्वितीय ऋषि! हे सर्वनियन्ता! हे प्रेरणादायक! हे प्रजाओं के अधिष्ठाता! किरणों को समेट लीजिए, तेज को आत्मसात् कर लीजिए। जो आपका अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे आपकी कृपा से देखता हूँ जो यह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, मैं वही हूँ।

O Life giver to the world! Only seer! Ruler of all Inspirer, Lord of all creatures, gather up rays and collect the light, so that I may be able to see they most noble form. I am what he is i.e. the person in the Sun.

संस्कृतभावार्थः–जगत्पोषक सूर्य! अद्वितीय ऋषि! सर्वनियामक! प्रेरणादायक! प्रजानां स्वामि! भवान् स्वकीयान् प्रसारितान् किरणान् अपोहतु वारयतु वा, ज्योतिः समाहरतु। यत् भवतः इदम् अतिमङ्गलमयं रूपं वर्तते तत् रूपमनुभवितुं प्रयते यतो हि योऽसौ आदित्यमण्डलस्थः व्याहृतिरूपावयवसम्पन्नः पुरुषः सोऽहमस्मि।

शा०—पूषन्निति। हे पूषन्! जगतः पोषणात् पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः। हे एकर्षे! तथा सर्वस्य संयमनाद्यमः! हे यम! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वीकरणात् सूर्यः। हे सूर्य! प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः। हे प्राजापत्य! व्यूह विगमय रश्मीन् स्वान्। समूह, एकीकुरु उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः। यत्ते तव रूपं कल्याणतममत्यन्तशोभनं तत्ते तवाऽऽत्मनः प्रसादात् पश्यामि। किञ्चाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णं वाऽनेन, प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि॥ १६॥

भाष्यानुवाद—हे पूषन! जगत् का पोषण करने के कारण सूर्य पूषा है। हे एकर्षे! सूर्य अकेला ही चलता है इसलिए एकर्षि है। हे यम! सबका संयम करने के कारण सूर्य यम है। हे सूर्य! किरण, प्राण और रसों को स्वीकार करने के कारण सूर्य सूर्य है। हे प्राजापत्य! प्रजापति की सन्तान होने के कारण सूर्य प्राजापत्य है। हे प्राजापत्य! अपनी किरणों को दूर करें अपनी सन्तापदायिनी ज्योतियों को पुञ्जीभूत करें अर्थात् शान्त कर दें।

तुम्हारा जो अत्यन्त कल्याणमय अर्थात् अत्यन्त सुन्दर स्वरूप है उसे मैं आपकी आत्मा की कृपा से देखता हूँ। यह मैं तुमसे सेवक के समान याचना नहीं करता हूँ क्योंकि यह जो व्याहृतिरूप अङ्गों वाला आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, जो पुरुषाकार होने से अथवा प्राण और बुद्धिरूप से समग्र जगत् को पूर्ण किये हुए है अथवा जो शरीर रूपी पुरी में शयन करने के कारण पुरुष है—वह मै ही हूँ।

व्याख्या—

चित्रं देवानामुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

ऋग्वेद १.११५.१

सूर्य मण्डल विश्व के विधान का संरक्षक है, वह जगत् का नेत्रस्वरूप है, वह द्यावापृथिवी आदि को अपने प्रकाश से भर देता है, अपने अन्तर्यामीरूप से संसार को प्रेरणा देने के कारण वह जड़ तथा चेतन सभी का आत्मा है। कल्याण के द्वारा सबको पुष्ट करने के कारण सूर्य ही पूषा है—**स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः**, ऋग्वेद १.८९.६। नित्यप्रति उदय को प्राप्त कर सूर्य ही अपनी जीवनदायिनी किरणों से चर-अचर प्राणियों में चेतना का सञ्चार करता है। रात्रि की निस्तब्धता आने पर विश्व सुखनिद्रा में लीन हो जाता है, उस समय

आकाश में एकाकी विचरण करने के कारण वह एकर्षि है—**सूर्य एकाकी चरति,** शतपथ ब्राह्मण १३.५.२.१२। सूर्योदय काल में किरणों से उष्मा लेकर मृतप्राय सम्पूर्ण जगत् गतिशील हो उठता है मानों सूर्य जो तप्त रूप में उदित हो रहा है स्वयं सभी प्राणियों के प्राणतत्त्व से उष्मा लेकर उदित होता है—**योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति।**

नवो नवो भवसि जायमानः अथर्ववेद ७.८१.२—एक सूर्य है जो प्रतिदिन नवीन होकर उदित और अस्त होता है। हम केवल उससे ही परिचित हैं किन्तु वैज्ञानिकों की गणना के अनुसार ब्रह्माण्ड में उस प्रकार के आग के गोले अनन्त हैं। हमारे सूर्य से भी अधिक प्रचण्ड, अधिक विशाल हैं वे सूर्य। खगोलशास्त्री चिन्तित भी हैं कि एक दिन ऐसा अवश्य आएगा, जब सूर्य सम्पूर्ण रूप से विकीरित हो जाएगा, शान्त हो जाएगा, तब जीवन कैसे चलेगा? सूर्य की किरणें ही तो संसार की जीवनदायिनी स्रोत हैं अतः सूर्य के शान्त होने पर सजीवता समाप्त हो जाएगी—**आदित्यो वै बाह्य प्राणाः,** कौषीतकि उपनिषद्।

महासूर्य, जिसमें अनन्त—अनन्त सूर्यों का प्रकाश है, जिससे अगणित सूर्य अग्नितत्त्व ग्रहण करते हैं, जो प्रत्येक चर-अचर अणु में व्याप्त है, जो जीव की अन्तरात्मा में अवस्थित है, जिसे बाहर की खोज से नहीं, अन्दर की यात्रा से पाया जा सकता है, जिससे सृष्टि विस्तार पाती है, ऋषि कहते हैं वह विलक्षण, एकाकी, अद्वितीय तत्त्व है। वहाँ द्वैत नहीं अतः अशान्ति भी नहीं; यह द्वैतभाव ही मन को मथित करता रहता है। एक की प्राप्ति द्वितीय की लालसा को जन्म दे जाती है, एक की उपलब्धि द्वितीय को आमन्त्रण दे जाती है। अद्वैत को पाने के लिए द्वैत के पार जाना पड़ता है। अशुभ तो त्यागना ही है, शुभ को भी छोड़ना पड़ता है, लौह शृंखलाएँ तो तोड़नी ही हैं, स्वर्णशृंखलाएँ भी तोड़ देनी पड़ती हैं क्योंकि बन्धन तो दोनों ही हैं। जीवन और मृत्यु दोनों में आसक्ति समाप्त करने पर ही अमृत मिलता है, न मृत्यु में विराग रह जाए, न जीवन में राग। अन्धकार के पार, प्रकाश के भी पार निकल जाने की तत्परता ही अमृत की उपलब्धि है।

यम मृत्यु के माध्यम से भौतिक जगत् का नियमन करता है। वह सूर्य का ही द्वितीय पक्ष है क्योंकि मृत्यु वहीं से निर्धारित होती है जहाँ से जीवन। जीवन नवागन्तुकों का स्वागत करता है, मृत्यु जीर्ण-शीर्ण को विदा दे देती है। जीवन मन को चाञ्चल्य देता है, मृत्यु आकर इन्द्रियों का शमन कर जाती है, जीवन व्यस्तता है, मृत्यु विश्राम है। जीवन के लिए यदि व्यस्तता अनिवार्य है

तो मृत्यु रूप विश्राम भी आवश्यक, अन्यथा संसार में अत्यधिक अनियमन हो जाएगा। मृत्यु नियमन है, स्वाभाविक है, अनिवार्य है–**मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृति र्जीवितमुच्यते बुधैः,** रघुवंश ८.८७। सूर्य अपनी उष्मा खींच कर मृत्यु के माध्यम से संयमन करता है जिससे अवशिष्ट प्राणी प्राकृतिक उपादानों का आवश्यकतानुरूप भोग कर सकें। जीवन का सन्तुलन है मृत्यु अतएव ऋषियों ने मृत्यु का स्वागत किया–

जिस मरने थै जग डरै, सो मेरे आनन्द।

कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरन परमानन्द॥ कबीर

सूर्य किरणों, प्राणों और रसों का स्वीकर्ता होने से सूर्य है। समग्र कर्मों में लोक का प्रवर्तक होने से अथवा ज्ञानियों के (सूरियों) के परमलक्ष्यरूप होने से वह सूर्य है अथवा अपने उपासकों की बुद्धि का प्रेरक होने से वह सूर्य है। प्रसिद्धि भी है–**तत् सवितुर्वरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्,** ऋग्वेद ३.६२.१०। सूर्य प्राणियों को प्राजापत्य शक्ति से जीवन देते हुए उत्पत्ति रूप कार्य को सम्पन्न करते हैं अतः सूर्य ही प्रजापति हैं। प्रजापति शब्द का अर्थ है–प्रजाओं को उत्पन्न कर सकने की क्षमता तथा प्रजाओं के पालन की योग्यता। हिरण्यगर्भ सूर्यरूप प्रजापति समग्र ब्रह्माण्ड के एकमात्र रचयिता हैं। जगत् में प्राणशक्ति की प्रतिष्ठा उनके ही कारण है अतः वे ही एकमात्र उपास्य हैं–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋग्वेद १०.१२१.१

प्रजापति अपने विलक्षण स्वामित्व से प्रजाओं के सम्यक् पालन में दत्तचित्त रहते हैं। असीम प्रतिभा से भौतिक जगत् की व्यवस्था करते हैं। अनुपम सामर्थ्य से सृष्टि में इच्छानुसार परिवर्तन के लिए स्वतन्त्र हैं–

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥ ध्वन्यालोक

ईशावास्य के ऋषि कहते हैं–हे महासूर्य! हे अद्वितीय! हे यम! हे प्रजापति! तू अपनी जीवन अथवा मृत्युदायिनी किरणों को समेट ले। किरणों का प्रचण्ड ताप, तेजस्विता और चकाचौंध मेरे नेत्रों को अन्धा बना रही है। हिरण्मय पात्र से निकलने वाली किरणें कामनाएँ, वासनाएँ लालसाएँ बन कर

साध्य की प्राप्ति से मुझे दूर भटका रही हैं। मैं पराभूत नेत्रों से नहीं देख पा रहूँ कि तेरा यथार्थ रूप क्या है? मृत्यु के पार, जीवन के भी पार जाकर मैं तेरे वास्तविक रूप के दर्शन को आकुल हूँ। देखने का इच्छुक हूँ उस स्रोत को, जहाँ से सब कुछ उद्भूत हो जाता है, जहाँ सब कुछ विलीन हो जाता है। तू अपनी प्रखर रश्मियों को समेट कर मुझे महाशून्य अथवा महापूर्ण के दर्शन करा दे।

ऋषि प्रार्थना करते हैं कि भौतिक प्रकृति में जो आकर्षण है, पदार्थों में जो लावण्य है, वह प्रकृति का अपना नहीं है। समग्र प्रकृति आपकी रश्मियों के व्यूह की ज्योति से भासमान है, आपकी रश्मियों का व्यूह ही जगत् में चारों ओर बिखर कर चेतन–अचेतन को प्रकाशमान कर रहा है, नाना प्रकार से चमका रहा है। इस चकाचौंध से अचम्भित नेत्र भौतिक जगत् के पार ब्रह्म के सत्य स्वरूप को प्रयास करने पर भी देख नहीं पा रहे हैं। अत: आप से निवेदन है कि अपने तेजोमय उग्र रूप को सांसारिक वस्तुओं में से खींच लें, अपनी रश्मियों को गतिशील जगत् से बटोर लें अथवा इधर–उधर छितरा दें जिससे विश्व का वास्तविक निष्प्रभ स्वरूप मेरे नेत्रों के सम्मुख आ जाए, जिससे संसार की असारता से मेरी बुद्धि अवगत हो जाए, तब मैं अन्तकाल में ब्रह्म के प्रतीक आपके दर्शन कर सकूँ। आपके साक्षात् से तृप्त स्वयं भी आनन्दरूप हो सकूँ–**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**

आँखों की दृष्टिहीन कर देने वाली चमकीली किरणों के प्रखर प्रकाश को समेट लेने से आपका कल्याणयम तेजस्वी रूप मुझे दिखने लगा, मुझे ज्ञात हुआ कि संसार में आकर्षण के स्रोत आप हैं, सत्य के प्रणेता आप हैं, कल्याण के कारण आप हैं। सृष्टि के कण–कण में आप वर्तमान हैं अत: सृष्टि मन को मोहती है, नेत्रों को भली लगती है। आपकी सत्ता नि:शेष होते ही सृष्टि खोखली हो जाती है। जीव की समस्त गतिविधियों के सञ्चालक आप हैं, आपके सूत्र खींचते ही अचानक क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। उस परम मङ्गलमय क्षण में न 'मैं' बचता है न 'मेरा', सब कुछ आप में विलीन हो जाता है।

वस्तुत: स्वयं को बचाकर सत्य को जाना भी नहीं जा सकता है। सब कुछ यहाँ तक कि मैं भी नष्ट हो जाऊँ, सबके नष्ट हो जाने पर भी जो बच रहे, उस सत्य को ही जानने की मेरी इच्छा है। मैं यदि बच गया, असत्य का अल्पभाग यदि बच गया तो शून्य की अवस्था, महासमाधि की स्थिति नहीं आ पाएगी और सत्य अनुद्घाटित रह जाएगा। अत: मुझे स्वयं में आत्मसात् कर

लीजिए, लहरों के साथ लहरे बना लीजिए किन्तु सत्य का ज्ञान दे दीजिए।

ब्रह्माण्ड में ब्रह्मपुरुष के प्रकाश से प्रकृति प्रकाशमान है। पुरुष ब्रह्माण्ड का उत्पादक, रक्षक, पालक, संहारक आदि है। निश्चय ही मैं वह पुरुष हूँ– **सोऽहम्** क्योंकि आत्मा ब्रह्मस्वरूप है–**अंह ब्रह्मास्मि,** बृहदारण्यक १.४.१०। जीव ब्रह्म को भूल कर प्रकृति के रमणीय रूपों में मुग्ध रह कर आयु व्यतीत कर देता है उसी प्रकार पुरुष के अंश पिण्डशरीर में आत्मतत्त्व की ज्योति की ऊर्जा समाहित है, जीव आत्मतत्त्व को विस्मृत कर, शरीर को सत्य समझ कर, उसी के शृंगार में जीवन व्यर्थ कर देता है–**यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे, यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।**

समाधि अवस्था को प्राप्त साधक समाहित मन से विश्वात्मा तथा जीवात्मा के मध्य अभेद स्थापित कर द्वैत का अतिक्रमण कर जाता है। मैं वही हूँ,[१] मैं वही हूँ[२]–यही आनन्द की पूर्वपीठिका है, इसी पीठिका पर चरण रखने वाला ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हो जाता है–

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। गीता २.७२

विशेष–पूषन्–पोषणात् पूषा सूर्यः वा; सम्बोधने पूषन्। **एकर्षे**–एकश्चासौ ऋषिः; √ऋष् ज्ञाने + इनि; प्र० ए० व०; सम्बोधने एकर्षे; अद्वितीयः ज्ञानसम्पन्नः प्रमुखः वा। **यम**–यमयति सर्वमिति; संयमनात् यमः; √यम् + घञ्; प्र० ए० व०; सम्बोधने यम; नियामकः। **सूर्यः**–√सृ–सर्तेर्वा, चलनं; √सू–सुवतेर्वा, प्रेरणं; सु + √ईर् स्वीय्यतेर्वा, सरणं; सर्वेषां प्रेरकः। **प्राजापत्यः**–प्रजानां पतिः; प्रजापतेरपत्यं वा; सम्बोधने प्राजापत्यः। **रश्मीन्**–अंशून् वा किरणान् वा। **व्यूह**–वि + √ऊह + लोट्; म० पु० ए० व०; वारयतु। **तेजः**–तापकः ज्योतिः। **समूह**–सम् + √ऊह + लोट्; म० पु० ए० व०; समाहरतु। **कल्याणतमं**–अतिशयेन कल्याणम् इतिः कल्याण + तमप्; मङ्गलमयम्। **तत्**–उत्कृष्टं रूपम्। **ते**–भवतः प्रसादात्। **पश्यामि**– √दृश् + लट्; उ० पु० ए० व०; अनुभवामि। **यः**–पूर्वोक्तः। **असावसौ**–असौ + असौ; 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र में व का लोप प्राप्त किन्तु 'असौ च शाकटायनः' सूत्र से पदमध्यगत 'व' के लोप का निषेध, असौ–परोक्ष; असौ– प्रत्यक्षः। **पुरुषः**–पुरि शेते इति; परमात्मा। **सः अहम्**–भवतः अंशः अहम् एव अस्मि।

---

१. आदित्यमण्डलस्थ पुरुष

२. हृदयप्रदेशस्थ पुरुष

प्रस्तुत मन्त्र में चार चरणों में बारह मात्राओं की गणना से जगती छन्द उपनिबद्ध है। साभिप्राय विशेषणों के समावेश से परिकर अलङ्कार तथा एक ही सूर्य के अनेक रूपों में वर्णित होने से उल्लेख अलङ्कार की प्रतीति है। दोनों ही अलङ्कारों के अस्पष्ट आभास से सन्देहसङ्कर अलङ्कार की स्थिति बन रही है। यह मन्त्र अन्त्येष्टि संस्कार में उच्चारित करने का विधान है। बृहदारण्यक उपनिषद् ५.१५.१ में मन्त्र यथावत् उपलब्ध है।



मरणोन्मुख जीव की याचना

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ्शरीरम्।

ओ३म् क्रतो स्मर कृतँ् स्मरँ्क्रतो स्मर कृतँ्स्मर॥ १७॥

अन्वयः—अथ वायुः अमृतम् अनिलम् इदं शरीरं भस्मान्तम्॥ ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ १७॥

शब्दार्थ—अथ—मृत्यु के अनन्तर। वायुः—सूक्ष्मशरीर। अमृतं—सूक्ष्मरूप। अनिलं—प्राणवायु। इदं—प्रस्तुत। शरीरं—स्थूल शरीर। भस्मान्तं—भस्मावशेष। ओ३म्—प्रणवरूप, ब्रह्म का प्रतीक। क्रतो—सङ्कल्पात्मक मन, करणीय कर्म। क्रतु—अनुष्ठित कर्म, यज्ञादि। क्रतो—सङ्कल्पात्मक जीव। स्मर—अनुरूप फल प्राप्त करो।

अनुवाद—प्राणवायु अमृत रूप प्राणवायु में विलीन हो जाए, यह शरीर भस्मावशेष हो जाए। हे सङ्कल्पात्मक (ओ३म् रूप) मन! तू स्मरण कर, मेरे द्वारा सम्पादित कर्मों का स्मरण कर। हे सङ्कल्पात्मक जीव! तू स्मरण कर, अपने द्वारा सम्पादित कर्मों का स्मरण कर। अथवा अकृत अर्थात् भविष्यत् काल में करणीय कर्मों का स्मरण कर, कृत अर्थात् भूतकाल में सम्पादित कर्मों का स्मरण कर।

May the air sustain the immortal element. May the body turn to ashes. Om Agni! remember my deeds. Mind! remember thy deeds.

संस्कृतभावार्थः—प्राणवायुप्रमुखानि सर्वेन्द्रियाणि पञ्चभूतेषु विलयनं प्राप्नुयुः, सूक्ष्मशरीरं प्रकृत्या सह एकाकारं भवेत्। इयं नश्वरकाया मरणानन्तरम् अग्निदेवस्य कृते समर्पिता स्यात्, स्थूलशरीरमपि दहनक्रियामाध्यमेन समाप्तिं गच्छेत्। जीवनान्ते कर्माणि विहाय न किमपि

अवशिष्यते अतएव ऋषि: उद्घोषयति यत् सावधानेन चित्तेन कर्ममार्गमाचरतु।

शा०—वायुरिति। अथेदानीं मम मरिष्यतो वायु: प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेष:। लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्। मार्गयाचनसामर्थ्यात् अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात्। ओमिति यथोपासनमोम्प्रतीकात्मकत्वात् सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतो! सङ्कल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽत: स्मरैतावन्तं कालं भावितं कृतमग्ने स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम्॥ १७॥

भाष्यानुवाद—अब मुझ मरने वाले का वायु—प्राण अपने अध्यात्मपरिच्छेद को त्याग कर अधिदैवतरूप सर्वात्मक वायुरूप अमृत अर्थात् सूत्रात्मा को प्राप्त हो—इस प्रकार इस वाक्य में 'प्रतिपद्यताम्' यह क्रियापद जोड़ लेना चाहिए। यहाँ यह समझना चाहिए कि ज्ञान और कर्म के संस्कारों से युक्त यह लिङ्ग शरीर उत्क्रमण करे क्योंकि इस श्रुति से मार्ग की याचना की गई है। अब यह शरीर अग्नि में होम कर दिये जाने पर भस्मशेष हो जाए।

ओ३म् ऐसा कह कर यहाँ उपासना के अनुसार सत्यस्वरूप अग्नि संज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूप से कहा गया है क्योंकि ओ३म् उसका प्रतीक है। हे क्रतो! सङ्कल्पात्मक मन! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है, उसका स्मरण कर, अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है अत: तू स्मरण कर। बाल्यावस्था से लेकर इतने काल तक मैंने जिस कर्म का पहले अनुष्ठान किया है, उसका भी स्मरण कर। क्रतो स्मर, कृतं स्मर—स्मर पद की पुनरुक्ति आदर के लिए है।

व्याख्या—कृतं कर्म शुभाशुभं रूप यह उपदेश सम्भवत: मृत्युकाल में मरणासन्न व्यक्ति के लिए नहीं है, उस समय व्यक्ति मस्तिष्क की अवसन्न दशा को प्राप्त हो जाता है। सम्भव है कि विद्या तथा सम्भूति के पथ पर बढ़ कर अमरत्व की कामना करने वाला पुरुष आयुमध्य में ही सांसारिक विषयों से उपरम हो कर समाधि को प्राप्त हो जाए। नचिकेता, प्रहलाद तथा ध्रुव की भाँति उसे संसार की असारता और मोक्ष की सत्ता में कोई सन्देह न रह जाए अथवा तीनों आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ का यथानिर्दिष्ट आचरण करने के पश्चात् व्यक्ति मुक्ति की प्रबल इच्छा से आयु के अन्तिम भाग चतुर्थाश्रम संन्यास को स्वीकार कर ले। आजीवन चित्तवृत्तियों के संयमन पूर्वक सत्, रज, तम का सेवन करने के कारण मृत्यु काल में उसे सद्विचार ही आक्रान्त करेंगे। मनोनिग्रह द्वारा स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मस्तिष्क, स्वस्थ विचार से समन्वित जीवनशैली भारतीय संस्कृति को अभिप्रेत भी है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ रघुवंश 1.8

स्पष्ट है कि यह स्मरण सामान्य मृत्यु के समय नहीं, महामृत्यु के समय, चित्त की चञ्चलता के काल में नहीं, समाधि के काल में किया गया स्मरण है। साधारण मृत्युं केवल स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का विनाश है, काया का परिवर्तन मात्र है। अन्य सब कुछ आत्मा, मन, वासना, कर्म, संस्कार, अहंकार, पाप, पुण्य सब बच जाते हैं; नया शरीर मिलते ही उसे पकड़ लेते हैं। कर्मों के अनुसार ही साधक को मति, गति प्राप्त होती है। संकल्पो के अनुरूप जब तक मन अवशिष्ट हो, किये हुए पर विचार करने को, भविष्य में करने योग्य की योजनाएँ बनाने को, मुक्ति असम्भव है।

ईशावास्य के ऋषि का अनुभव है कि **सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः**, कठ १.६। अतः शरीर की चिन्ता नहीं है, प्राणादि समष्टिभूत वायु में समाहित हो जाएँ, शरीर जल कर राख हो जाए, माटी की काया माटी में मिल जाए, अग्नि इसे भस्मसात् कर ले किन्तु भयभीत होने का कोई कारण नहीं क्योंकि उससे आत्मा की अविचल स्थिति में कोई अन्तर नहीं आएगा–**पर्णं पतति चेत्तेन तरोः किं शुभाशुभम्।**

व्यष्टि और समष्टि के भेद से सप्तदश अवयवों वाला सूक्ष्म शरीर दो प्रकार का होता है। 'वायु' से व्यष्टिरूप सूक्ष्मशरीर तथा 'अनिल' से समष्टि रूप सूक्ष्मशरीर ऋषि को अभिप्रेत है। मरणकाल में व्यष्टिरूप सूक्ष्मशरीर का समष्टिरूप सूक्ष्मशरीर में एकीभाव साधक का अभिलषित है। तदनन्तर प्राणनिर्गमन के पश्चात् यह स्थूलशरीर अग्नि में होम कर दिये जाने पर भस्म हो जाए, वह जिन उपादान तत्त्वों के संयोग से बना था, उनमें ही विलीन हो जाए। अन्तकाल में पवित्र पद ओ३म् का उच्चारण पुण्यदायी है। उससे चित्त सुस्थिर रहेगा और बुद्धि व्यवस्थित, उससे मृत्यु महोत्सव होगी और स्थूल-सूक्ष्म शरीर का छूटना विजयोत्सव। ओ३म् पद के ब्रह्मत्व में उपनिषद् के ऋषि को भी सन्देह नहीं है। सावधान चित्त से धनुष पर बाण चढ़ा कर बींधे गए लक्ष्य के समान ओ३म् का उच्चारण साक्षात् ब्रह्ममयता की स्थिति को प्राप्त कराता है–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ मुण्डक २.२.४

ऋषि का विचारमन्थन महामृत्यु अथवा समाधि की दशा में अहङ्कार और वासनाओं से भरे मन को सचेत कर रहा है। अब समाधि के प्रवेश द्वार पर

अथवा मृत्यु के विवेकपूर्ण क्षण में प्रबल और चञ्चल मन निःशेष हो रहा है, वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा समाप्त हो रही हैं, मनोवृत्तियाँ अस्तित्वहीन हो रही हैं उस क्षण ऋषि को विगत स्मृतियाँ आकुल कर रही हैं– हे सङ्कल्पात्मक मन! तुझमें अनन्त-अनन्त जन्मों से बसी वासना ने अहङ्कार के साथ मिल कर मुझे कर्ता का भाव दिया, दर्प से भर कर अनेक-अनेक बार मैंने उस भाव को अङ्गीकार किया। कितनी प्रवञ्चनाएँ, कितने आश्वासन तूने मुझे दिए, मैंने कितना विश्वास किया तुझ पर। तेरे मोह में फंस कर कर मैंने क्या–क्या नहीं किया? मधुर स्वप्नों का प्रलोभन देकर तूने मुझसे आगामी जीवनों के लिए भी क्या–क्या कार्य नहीं करवाए? उचित-अनुचित मार्गों पर मैं तेरा आश्रय ले कर चला, तू उन पिछले जन्मों में किये कर्मों का स्मरण कर, तू उन सब भविष्य कालीन योजनाओं का भी स्मरण कर; सब व्यर्थ था, निष्फल था, निष्प्रयोजन था। आज जब तू विदा हो रहा है, विलीन हो रहा है, शान्त हो रहा है तो सब विलीन हो रहा है क्योंकि तुझ से ही सारा संसार जुड़ा था, मैं तुझे और स्वयं को एक मान कर जीवित था। हे सङ्कल्पात्मक मन! वह मेरी भ्रान्ति थी। अब मैं स्वयं में समाहित हो गया हूँ, अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं, शरीर रूपी घर की भी आवश्यकता नहीं। आज वायु वायु में, अग्नि अग्नि में, आकाश आकाश में, जल जल में और मिट्टी मिट्टी में मिल जाए। आज मैं लोहे की जञ्जीरें तोड़ कर, लौह पिञ्जर को नष्ट-भ्रष्ट कर श्येन पक्षी के समान आकाश में उड़ रहा हूँ, शरीर रूपी बन्धन से मुक्त हो रहा हूँ– **शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति,** ऐतरेय, २.५१। ओ३म् पद पवित्रता का, शक्ति सञ्चय का प्रतीक है। ओ३म् के उच्चारण से आन्तरिक शुद्धि के अनन्तर मन के निग्रह में सरलता हो सकती है। अतः मन, वाणी और आत्मा से पवित्र ऋषि मन को पूर्व कृत कर्मों का स्मरण करा कर मानों वर्तमान जीवन की समय-सारणी के संकेत से अग्रिम जन्मों के लिए सचेत कर रहा है। मानों परामर्श दे रहा है कि आगामी जीवन में उचित-अनुचित में प्रवृत्त होने से पूर्व प्रणव के उच्चारण पूर्वक विगत सुकृत–दुष्कृतों का स्मरण कर लेना, यह तुम्हारे लिए कल्याणकर होगा, यह तुम्हारे अन्तस्तल को सबल करेगा, इसी विधि से तुम ओ३म् रूप एकाक्षर ब्रह्म को जान कर परम पुरुष में प्रतिष्ठित हो सकते हो–

ओ३मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ गीत ८.१३

ऋषि की यह प्रार्थना अन्तरात्मा का शब्दसाकार अनहद नाद है। हृदय से निकले प्रार्थना के शब्द सदा परिणामदायी होते है। यह सम्भव है कि वह

परिणाम मङ्गलमय तथा अपरोक्ष हो किन्तु प्रार्थना से कल्याण निश्चित है। अन्त:करण में परब्रह्म की दिव्य ज्योति जलाने की इच्छा से आपूरित साधक को प्रार्थना का आश्रय लेना चाहिए परन्तु उस प्रार्थना में मात्र नीरस शब्द न हो, श्रद्धा एवं भक्ति का रस हो, भावों का सञ्चार हो, आत्मा की आकुलता हो। अत: प्रार्थना केवल मुखर की ही सम्पत्ति नहीं, मूक–बधिर–पङ्गु के हृदय पुष्प भी प्रार्थना के माध्यम से अर्पित और फलित होते हैं। जो प्रार्थना के द्वारा श्रेष्ठतर हो कर ऊपर उठ गया, उसे प्रार्थना का फल मिल गया, वह ईश्वर का परम प्रिय हो गया–

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ गीता १२.१४

विशेष–अथ–प्राणनिर्गमनान्तरम्। **वायु:**–वाति इति वायु:; सप्तदशात्मकलिङ्गरूपसूक्ष्मशरीरम्। **अमृतं**–सूक्ष्मरूपं ब्रह्म। **अनिलं**–समष्टिरूपवायु:, पञ्चतत्त्वानामुपलक्षक: शब्द:। **इदं**–दृश्यमानं स्थूलशरीरम्। **भस्मान्तं**–भस्मैव अन्त: यस्य तत्; अग्नौ ज्वलितेन नि:शेषम्। **ओ३म्**– √अव रक्षणे + मनिन्; प्रणव:। **क्रतो**–सङ्कल्पात्मकमन: यज्ञकर्म वा। **कृतं**– √कृ + क्त; स्वानुष्ठितं कर्म। **स्मर**–√स्मृ + लोट्; म० पु० ए० व०; भ्वादि०; तथानुरूपं फलं प्रयच्छतु।

प्रस्तुत मन्त्र में आठ अक्षरों वाले चार पादों से अनुष्टुप् छन्द है। मृत्यु के समय अन्त्येष्टि संस्कार में यह मन्त्र उच्चारित करने का विधान है। बृहदारण्यक उपनिषद् ५.१५.१ में यह मन्त्र यथावत् प्राप्त है।



अग्निदेव से मुक्ति की पुन: याचना

शा०–पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते–

भाष्यानुवाद–पुन: दूसरे मन्त्र से उपासक मार्ग की याचना करता है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १८॥

अन्वय:–अग्ने! अस्मान् राये सुपथा नय, देव! विश्वानि वयुनानि विद्वान्, अस्मत् जुहुराणम्, एन:, युयोधि, ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम॥ १८॥

शब्दार्थ–अग्ने–ज्वलनशील पदार्थ अथवा अग्नि के अधिष्ठापक देव। राये–धन अथवा कर्मफल के लिए। सुपथा–शोभन अथवा समुचित मार्ग से।

नय–ले चलिए। देव–गुणविशिष्ट पुरुष। विश्वानि–समग्र। वयुनानि–कर्मों अथवा ज्ञानों को। विद्वान्–जानता है। अस्मत्–हमसे। जुहुराणं–कुटिलताओं को। एनः–पापों को। युयोधि–अलग कर दीजिए। ते–देवादिगुणविशिष्ट आपके लिए। भूयिष्ठां–अत्यधिक। नम–प्रणाम। उक्तिं–वचनों को। विधेम–सम्पादित करते हैं।

अनुवाद–हे अग्नि के अधिष्ठातृ देव! हमें ऐश्वर्य अथवा कर्म की पराकाष्ठा को पाने के लिए सन्मार्ग से ले चलिए। हे देव! आप सम्पूर्ण कर्म अथवा ज्ञान को जानने वाले है अतः हमसे हमारे मार्ग के प्रतिबन्धक पापों को दूर कर दीजिए। आपके लिए अत्यधिक नमस्कार के वचन कहते हैं, बारम्बार नमन करते हैं।

O divine fire! lead us on to prosperity through the right path. O God! Thou art the knower of all deeds and all knowledge. Drive off from our path all wickedness. We adore you repeatedly by our prayers for your kindness.

संस्कृतभावार्थः– हे अग्निदेव! भौतिकजगति यदपि धनधान्यरूपैश्वर्यमुपलभ्यते, सद्गतिं प्राप्तुं तत्सर्वमहमिच्छामि यतो हि पूर्णकामत्वं तत्र अनिवार्यम्। भवान् तु अस्माकं शारीरिकमानसिकसामर्थ्यं सम्यग्रूपेण अवगच्छति, अतः नः सुकृतान् दुष्कृतान् वा पृथक्कुरु। कृतज्ञाः वयं पुनः पुनः प्रणामेन परिचरेम।

शा०–अग्ने नयेति। हेऽग्ने! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः। अस्मान् यथोक्तधर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव! वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वाञ्जानन्। किञ्च युयोधि वियोजय विनाशयास्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुं भूयिष्ठां बहुतराम्। ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेमेत्यर्थः।

भाष्यानुवाद–हे अग्ने! मुझे सुपथ अर्थात् शोभन मार्ग से ले चलें। यहाँ सुपथा यह विशेषण दक्षिणमार्ग की निवृत्ति के लिए है। मैं आवागमनरूप दक्षिणमार्ग से खिन्न हो गया हूँ अतः प्रार्थना करता हूँ कि तुम आवागमन रहित सुन्दरमार्ग से कर्मफलभोग के लिए हमें ले चलो। यथोक्त

कर्मफलविशिष्ट हम लोगों के सम्पूर्ण कर्मों अथवा ज्ञानों को जानने वाले हे देव! तुम राये अर्थात् धन के लिए अर्थात् कर्मफल भोग के लिए पुनः पुनः आवागमन से रहित शुभ मार्ग से ले चलो।

तुम हमसे कुटिल अर्थात् वञ्चनात्मक पापों को वियुक्त कर दो अर्थात् नाश कर दो। तब हम विशुद्ध हो कर अपना इच्छित प्राप्त कर लेंगे यह अभिप्राय है किन्तु इस समय हम तुम्हारी परिचर्या नहीं कर सकते हैं अतः हम तुम्हारे लिए नमः उक्ति अर्थात् नमस्कार वचनों का विधान करते हैं अर्थात् नमस्कार से परिचर्या करते है।

व्याख्या–अग्निर्वै देवानां दूतः–अग्निदेव ही ऊर्ध्वगमन के नेतृत्व की क्षमता से युक्त हैं। मोक्षमार्ग के साधक को समस्त साधनों का निष्ठापूर्ण अनुष्ठान भी शरीर परित्याग और अग्निसमर्पण के अभाव में मुक्ति नहीं दिला सकता है। आधिभौतिक अग्नि की ज्वालाओं में दग्ध-पूत यह शरीर ही देव सामीप्य सुख का अनुभव कर सकता है। अग्निदेव की ही सामर्थ्य है कि उस अशरीरी शरीर को अथवा दूसरे शब्दों में उसकी विचार सरणियों को देवताओं तक पहुँचाए। कर्ममार्ग का अनुयायी होने से साधक ने जीवन में अनेक बार अग्निहोत्रादि कर्मो का अनुष्ठान किया है और अग्नि में आहुतियाँ डाल कर अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण की हैं। अतः अन्तकाल में श्रद्धावश यज्ञ के अधिष्ठाता अग्निदेव–**अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते** का स्मरण स्वाभाविक भी है।

ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति वाले आधिभौतिक अग्निदेव अशुद्ध को दग्ध कर शुद्ध को बचा लेते हैं किन्तु धूम्रमार्ग का अनुकरण कर स्वयं निःशेष हो जाते हैं। इसी प्रकार मानव मन की दुर्भावनाओं का विनाश कर चित्तवृत्तियों को वे ऊर्ध्वगामी बना उत्कृष्टता का सन्देश दे देते हैं और अहङ्कार को समाप्त कर मानव मन को शून्य कर देते हैं।

आधिदैविक अग्नि मानव के कृत-अकृत कर्मों से परिचित हैं, तदनुसार उन्हें ही अन्तकाल में उसे कष्टदायी नर्कलोक अथवा सुखदायी स्वर्गलोक को प्राप्त कराना है। अतः आसन्नमृत्यु साधक का अग्निदेव को स्मरण करना समुचित भी है–**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।**

प्रकाशमान् अग्निदेव अपनी पवित्रता से आध्यात्मिक चेतना के प्रतीक हैं वे सूर्य की उत्तप्त प्रखर ज्योतियों से सम्पूरित हैं। आकाश में उनके प्रतिष्ठित होते ही तमिस्र का नाश हो जाता है। साधक के हृदय से अज्ञानान्धकार दूर कर वे ज्ञानदीप की शुभ्र ज्योति से तम को समाप्त कर, स्पष्टता का, निःसन्दिग्ध ब्रह्मत्व का प्रकाश फैला सकते हैं–

राम-नाम मनि दीप धरि जीह देहरी द्वार।

तुलसी भीतर बाहिरौं जौ चाहसि उजिआर॥ रामचरितमानस

यज्ञीय अग्नि में भावित अग्निदेव आकांक्षाओं, अभिलाषाओं की पूर्ति का माध्यम बन, मानव की तृष्णाओं को शान्त कर उसे पूर्णकाम बना देते हैं। दिव्यगुण सम्पन्न अग्नि देव दुष्ट विचारों को दूर कर, चित्त को संशोधित कर, अपने समान लघु बना कर दिव्यपथ का अनुगामी बना सकते हैं। दिव्यपथ की गति मात्र स्वर्ग तक सीमित है परमसाध्य मोक्ष तक नहीं। हृद्देश में प्रदीप्त ब्रह्माग्निदेव ही अध्यात्म की शुद्धता से मोक्ष की सिद्धि करा सकते हैं। प्राचीन ऋषियों ने भी अग्नि में तीन लोकों से सम्बद्ध त्रिविध शक्तियों को स्वीकार किया है—**अयमेव अग्निः वैश्वानरः...........। विश्वावरा एते उत्तरे ज्योतिषी........यावदनुपात्तो, भवति, मध्यमधर्मा एव तावत् भवति,**

निरुक्त ९.२३।

अग्निदेव विशिष्ट बुद्धिमता गुण से जीव के शुभ तथा अशुभ कर्म एवं ज्ञान से परिचित हैं। कर्मविशिष्ट गति में अज्ञानवश जीव से नाना प्रकार के कुटिल फलयुक्त कर्म सम्पादित होते रहते हैं। उन कर्मों के बन्धनरूप अवसाद जन्म-जन्मान्तर कष्ट देते हैं, पुनर्जन्म की श्रृंखला से मुक्त नहीं होने देते हैं किन्तु साधक को इस बार मृत्यु के पश्चात् शोभन मार्ग से ही जाने की इच्छा है अशोभन मार्ग से नहीं—**असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय,** बृहदारण्यक १.३.२८। वस्तुतः असत् मार्ग पर चलने के लिए किसी प्रार्थना की आवश्यकता नहीं, अग्निदेव की कृपा की आवश्यकता नहीं; समग्र वासनाएँ, इच्छाएँ, अहङ्कार उस निकृष्टमार्ग पर प्रेरित करने को पर्याप्त हैं। उत्कर्ष के लिए ही प्रयत्न की, आश्रय की, सौजन्यता की अभिलाषा होती है।

शोभनमार्ग पर ले जाने की यह असाधारण प्रार्थना ही सन्मार्ग में प्रवृत्ति का प्रमाण है। श्रेयमार्ग का वह पथिक अन्तरात्मा की उत्साह रूप अग्नि की प्रेरणा से आवागमनरूप दक्षिणमार्ग से निवृत्त हो कर मुक्तिरूप उत्तर मार्ग को स्वीकार करने का साहस सञ्चित कर सकेगा अन्यथा कठिन और दुर्गम उस मार्ग पर चलने में उसे सदा भय की अनुभूति होगी—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

महाभारत

ईशावास्य के ऋषि की यह प्रार्थना रोम-रोम से, श्वास-प्रश्वास से **गुञ्जित हो** कर, घनीभूत हो जाए और अग्निदेव अनुग्रहपूर्वक उसके समग्र

पापों, दुष्कर्मों को जला कर शुभ कर्मों को ही अवशिष्ट कर फलोन्मुखी बनाएँ। उसे चन्द्रलोक को प्राप्त कराने वाले दक्षिणमार्ग अथवा पितृमार्ग से न ले जा कर, ब्रह्मलोक को जाने वाले उत्तरमार्ग अथवा देवमार्ग पर प्रवृत्त करें क्योंकि पितृयान की पुनरावृत्ति संसार में है और देवयान का अन्तिम सोपानफलक ब्रह्मलोक हैं वहाँ से पुनरागमन सम्भव नहीं। इस हेतु मरणशय्या पर स्थित अथवा समाधिरूप महामृत्यु में अवस्थित साधक शारीरिक क्षीणता के कारण यज्ञानुष्ठान में असमर्थ है। अहङ्काररहित, सरल, विनम्र प्रार्थना के माध्यम से मानों वह अपनी असहाय, निरुपाय स्थिति की घोषणा कर पूर्ण समर्पणभाव से सद्गति के लिए आकुल है–

आपन्नोऽस्मि शरण्योऽस्मि सर्वावस्थोऽस्मि सर्वदा।
भगवन्स्त्वां प्रपन्नोऽस्मि रक्ष मां शरणागतम्॥

विशेष–अग्नि–√अङ्ग + नि; अग्निः कस्मात्, अग्रणीर्भवति। **अस्मान्**–असहायजीवान्। **राये**–√रै + च० ए० व०, धनाय कर्मफलाय वा। **सुपथा**–सुष्ठु पन्थाः तेन; उत्तरमार्गेण, पितृयानेन अर्चिरादिपथेन वा। **नय**–प्रापय। **देव**–दिव्यादिलक्षणसम्पन्न। **विश्वानि**–सर्वाणि। **वयुनानि**–कर्माणि प्रज्ञानानि वा। **विद्वान्**–√विद् + शतृ; प्र० ए० व०; ज्ञाता। **अस्मत्**–योगिसम्पर्कात्। **जुहुराणं**–√ह्वृ + शानच्; द्वि० ए० व०; वञ्चनात्मकं प्रतिबन्धात्मकं वा। **एनः**–√इ + असुन्, नुडागम–एनस्; एति गच्छति प्रायश्चित्तादिना; पापाचरणम्। **युयोधि**–√यु +लोट्; म० पु० ए० व०; जुहोत्यादिगण; वियोजयतु विश्लेषयतु वा। **ते**–भवतः कृते। **भूयिष्ठां**–बहु (भू आदेश) + इष्ठ + युगागम + टाप्; अतिशयेन बह्वी इति भूयिष्ठा तां; बहुतराम्। **नम उक्तिं**–नमः उक्तिः तां; नमनोक्तिं प्रणामवचनं वा। **विधेम**–वि + √धा + आशीर्लिङ्; उ० पु० ब० व०; अनुचरेम।

प्रस्तुत मन्त्र में एकादशाक्षरा वृत्ति वाले चार चरणों के कारण त्रिष्टुप् छन्द है। ऋषि की देवादिविषयक रति के माध्यम से भाव की सुन्दर निष्पत्ति लक्षित है। उक्त मन्त्र अन्त्येष्टि काल में उच्चरित किया जाता है। प्रस्तुत मन्त्र वैदिक संहिताओं में पूर्णतः अथवा अंशतः अनेक बार प्राप्त है–ऋग्वेद १.१८९.१; तैत्तिरीय संहिता १.१.१४.३, ४.३१.१; वाजसनेयिसंहिता ७.४३; अथर्वसंहिता ४.३९.१०; बृहदारण्यक ५.१५.१।

शा०–अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुत इति श्रुत्वा केचित् संशयं कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं सङ्क्षेपतो विचारणां करिष्यामः। तत्र तावत् किन्निमित्तः संशय इत्युच्यते। विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वं च। ननूक्ताया:

परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात् समुच्चयानुपपत्तिः। सत्यम्। विरोधस्तु नावगम्यते, विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात्। यथाऽविद्यानुष्ठानं विद्योपासनं च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि। यथा च न हिंस्यात् सर्वा भूतानीति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यतेऽध्वरे पशुं हिंस्यादिति। एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्। विद्याकर्मणोश्च समुच्चयो न दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति श्रुतेः। विद्यां चाविद्यां चेति वचनादविरोध इति चेन्न। हेतुस्वरूपफलविरोधात्। विद्याविद्याविरोधाविरोधयोर्विकल्पासम्भवात् समुच्चयविधानादविरोध एवेति चेन्न। सहसम्भवानुपपत्तेः। क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेन्न। विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वात् तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाऽऽश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा। यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति शोकमोहाद्यसम्भवश्रुतेः। अविद्याऽसम्भवात् तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिमवोचाम। अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकममृतं विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात् तस्मादुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाऽस्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते॥ १८॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य।
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम्॥

भाष्यानुवाद—अविद्या से (कर्म से) मृत्यु को पार कर विद्या (देवताज्ञान) से अमृत प्राप्त करता है। विनाश (कार्यब्रह्म की उपासना) से मृत्यु को पार कर असम्भूति (अव्यक्त की उपासना) से अमृत लाभ करता है,— यह सुन कर कुछ लोगों को संशय हो जाता है। अतः उस संशय के निराकरण के लिए संक्षेप में विचार करते हैं 'विद्या' शब्द से मुख्य परमार्थविद्या तथा 'अमृत' शब्द से अमृतत्व अर्थ ही क्यों नहीं लिया जाता है?

पूर्वकथित परमार्थविद्या और कर्म का परस्पर विरोध होने के कारण इनका समुच्चय नहीं हो सकता है।

ठीक है, परन्तु इनका विरोध या अविरोध तो शास्त्रप्रमाण से ही सिद्ध हो सकता है अतः (यहाँ शास्त्रविधि के कारण) इनका विरोध ज्ञात नहीं होता। जिस प्रकार अविद्या का अनुष्ठान तथा विद्या की उपासना शास्त्रप्रमाणों से सिद्ध है उसी प्रकार उनके विरोध तथा अविरोध भी (शास्त्रसिद्ध) हैं। जैसे सभी प्राणियों की हिंसा न करे यह शास्त्र से ज्ञात है और फिर 'यज्ञ' में पशु

की हिंसा करे' इस शास्त्रविधि से ही बाधित हो जाती है, इसी प्रकार विद्या और अविद्या के मध्य में भी सम्भव है और इस प्रकार विद्या तथा कर्म का समुच्चय हो जाएगा।

नहीं, क्योंकि श्रुतिवचन है जो अविद्या तथा विद्या हैं वे दूर तक भिन्न गति तथा विपरीत फल देने वाली है, कठ० १.२.४।

किन्तु 'विद्यां चाविद्यां च' इस वाक्य के अनुसार इनका अविरोध है न? विद्या और अविद्या तथा विरोध और अविरोध में विकल्प असम्भव है (क्योंकि ये पूर्वसिद्ध हैं, विकल्प तो पुरुष साध्य वस्तुओं में होता है) इनके समुच्चय का विधान किये जाने से इनमें अविरोध है, ऐसा मान लेना चाहिए?

नहीं, क्योंकि इनका साथ रहना सम्भव नहीं है।

विद्या और अविद्या क्रम से एक आश्रय में रहती हैं, ऐसा मान लेना चाहिए? नहीं, क्योंकि विद्या के उत्पन्न हो जाने पर अविद्या का नाश हो जाता है पुनः उस आश्रय में अविद्या की उत्पत्ति नहीं होती है। अग्नि उष्ण और प्रकाशस्वरूप है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर जिस (अग्निरूप) आश्रय में वह उत्पन्न हुआ है उसी आश्रय में अग्नि शीतल और अप्रकाशमय है, इस अज्ञान अथवा संशय रूप भ्रम की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है– **यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**, ईशावास्य० ७। श्रुति भी कहती है कि (ज्ञानी के लिए) शोक-मोहादि असम्भव है। अविद्या के असम्भव हो जाने पर उसके आश्रय से होने वाले कर्म भी नहीं हो सकते, कह चुके हैं।

यहाँ 'अमृत को प्राप्त होता है' से आपेक्षिक अमृत अर्थ समझना चाहिए (मोक्ष नहीं)। विद्या शब्द से परमात्म विद्या अर्थ लेने पर 'हिरण्मयेन' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा मार्गादि की याचना सिद्ध नहीं हो सकती है। अतएव उपासना से साथ ही (कर्म का) समुच्चय किया है, परमात्मज्ञान के साथ नहीं। इस प्रकार मन्त्रों का वही अर्थ है जैसा हमने व्याख्यान किया है। ऐसा कह कर हम विराम लेते हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्सम्पूर्णा॥ १॥



परिशिष्ट-१

काण्वशाखीया

ईशावास्योपनिषत्

(ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः)

ॐ ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ ९॥
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीरणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १०॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ ११॥
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥ १२॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १३॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥ १४॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥
पूषन्! एकर्षे! यम! सूर्य! प्राजापत्य! व्यूह रश्मीन्।
समूह तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥ १६॥
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ १७॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १८॥

इति शुक्लयजुर्वेदीया काण्वशाखीया

ईशावास्योपनिषत्



परिशिष्ट—२

वर्णानुक्रमाणिका



हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।